सिद्धान्त-रहस्य

श्री स्वामीजी महाराज

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

लोकेन्द्र-साहित्य-मंडल का प्रथम पुष्प

ॐ तत्सत्

सिद्धान्त-रहस्य

अर्थात्

सिद्धान्त-रत्न-मणि-माला

(एक आध्यात्मिक निबन्ध)

लेखक—

श्री स्वामीजी महाराज

प्रकाशक—

श्रीलोकेन्द्र-साहित्य-मण्डल,

दतिया

प्रथमबार १०००

संवत १९९५ वि०

मूल्य ।।।)

वक्तव्य

श्री लोकेन्द्र-साहित्य-मण्डल के विगत वार्षिकोत्सव पर दतिया में साहित्य की प्रगति का विवेचन करते हुए मैंने कहा था- "समय आ गया है, जब यह बात जगजाहिर हो जाना चाहिये कि दतिया ने भी साहित्य के लिये कुछ किया है और कर सकती है। हाँ, उसका यह काम थोड़ा हो सकता है, पर वह दतिया के छोटे विस्तार को देखते हुए कम न होगा।" मैं नहीं समझता कि मेरे उपरोक्त शब्दों की सार्थकता का प्रमाण मण्डल के प्रस्तुत प्रयत्न से बढ़ कर कुछ मिलेगा। कदाचित् इसी हेतु अपने इस प्रयत्न को लेकर जनता के समक्ष उपस्थित होते हुए हमारा यह साहित्य-मंडल आज एक अपूर्व उल्लास में विभोर है।

अभी कुछ दिनों से ही दतिया में साहित्य-चिन्तन की भावना ने किंचित् व्यापकता के साथ प्रसार पाया है। यदि कोई संस्था ऐसे प्रवर्त्तन के लिये कुछ श्रेय की भागी है, तो मण्डल से भी आशा की जा सकती है कि वह आत्म-गोपन की परिधि को लाँघ कर सम्मान के प्रति सिर झुकाना नहीं भूलेगा। जब साहित्यिक अभिरुचि यहाँ एकान्त-कुटीरों में सीमित रह कर कुछ प्रतिध्वनि नहीं कर पाती थी, तब लोकेन्द्र-साहित्य-मण्डल के नाम पर लगभग एक दर्जन काव्य-रसिकों की गोष्ठी ने ही ज्ञान की ज्योति जगाई थी। वैशाख शुक्ला ५, सम्वत् १९९० को इस कवि-गोष्ठी ने कर्म-क्षेत्र में उतर कर एक महान् अनुष्ठान पर आस्था प्रकट की थी, और आशा-निराशा के उतार-चढ़ाव देखते हुए आज वह निश्चिन्त भाव से अपने उस कर्तव्य पर आरूढ़ है।

यद्यपि इस अल्प जीवन-काल में मण्डल अधिक काम नहीं कर सका है, तथापि मैं कह सकता हूँ कि अब वह शैशव की डगमग अवस्था को पार कर चुका है, और यह उसके उज्ज्वल भविष्य की सुखद आशा है।

अपने जन्म के साथ ही मण्डल ने प्राचीन और अर्वाचीन पुस्तकों के प्रकाशन में अपनी और राज्य की उन्नति के शुभ लक्षण देखे थे, तथा इस हेतु उसने चाव भी दिखाया। श्री यशवन्त-शंकर-समाज के साथ सम्मिलित रूप में कार्य करते हुए उसने 'प्रसाद' और 'उपहार' नामक पुस्तकों को परोक्ष रूप में अच्छी सहायता दी है। एक अन्य पुस्तक 'काव्य-सरोवर' को मण्डल ने अपना संरक्षण भी प्रदान किया है। उसके अपने एक स्वतन्त्र प्रकाशन का इधर अभाव था, और भगवद् कृपा से प्रस्तुत ग्रन्थ 'सिद्धान्त-रहस्य' ने पूर्ति का सुन्दर प्रारम्भ कर दिया। पूजनीय श्री स्वामी जी महाराज ने यह प्रसाद देकर हमें सदा के लिये अपना बना लिया है। केवल उत्साह-वर्धन के निमित्त स्वामी जी ने मण्डल पर यह अनुकम्पा दिखाई है, अन्यथा मेरी तो कुछ ऐसी धारणा है कि साहित्य की बड़ी-से-बड़ी प्रकाशन-संस्था पुस्तक को पाकर अपने को धन्य समझती।

पुस्तक का विषय आध्यात्मिक होते हुए एक साहित्यिक संस्था की ओर से उसके प्रकाशन पर कुछ लोग शंका प्रकट करेंगे, किन्तु मण्डल का उत्तर 'साहित्य' शब्द की व्याख्या में मिल जाता है। साहित्य का अभिप्राय मानव-जाति के कल्याण से है, और उसके इस व्यापक अर्थ में धार्मिक पुस्तकों का प्रमुख स्थान है। ऐसी पुस्तकों के लिये जनता प्रायः कम चाव रखती है, पर उनमें उसकी

उन्नति छिपी हुई है। अतएव सन्मार्ग पर जनता की रुचि को प्रवृत्त करने के अपने इस प्रयत्न के लिये भी मण्डल प्रशंसा का पात्र है। सरलता ऐसे प्रकाशन के लिये एक अपेक्षित वस्तु है, और इस हेतु उसने तड़क-भड़क को दूर रखा है। हाँ, प्रथम प्रयास होने के कारण उसमें त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। अतएव मैं पुस्तक के प्रेमी पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि वे अपनी सहृदयता से उन्हें अनदेखा कर दें।

अपने उन सभी सदस्यों और हितैषियों के प्रति जिन्होंने किसी प्रकार पुस्तक में योग दिया, आभार प्रकट करना मण्डल अपना कर्तव्य समझता है। केवल आत्मीयता के कारण उनके नामों का यहाँ उल्लेख नहीं हुआ है, किसी अविनय से नहीं। हमें इस बात का दुःख है कि प्रकाशन में व्यर्थ विलम्ब हुआ, और प्रूफ-संशोधन में सतर्कता रहने पर भी शुद्धि-पत्र की माँग आन पड़ी। मण्डल के एक अधिकृत सदस्य के नाते मैं यह प्रकट करूँगा कि हम अपने परिमित कोष के कारण व्यवहार में अधिक नहीं कर पाते, तथापि समय के अनुसार अपनी सभी योजनाओं की पूर्ति के लिये हम सदैव प्रयत्नशील हैं। जगदीश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें अभिवांछित दृढ़ता प्रदान करे, जिससे हम कर्तव्य का निर्वाह करते हुए अपने पाठकों को शीघ्र ही कोई दूसरा मूल्यवान रत्न भेंट कर सकें।

लोकेन्द्र-साहित्य-मंडल, दतिया
शरद पूर्णिमा, १९९५ वि०

हरिमोहनलाल वर्मा,
बी० ए०, साहित्यरत्न

T

प्राक्कथन

इस मायिक संसार में दुर्लभ मानव-जीवन को क्षणभंगुर जान कर प्रत्येक मनुष्य का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वह आत्म-कल्याण का सतत प्रयत्न करे। कल्याण-प्राप्ति के जो मार्ग और साधन हमारे त्रिकालदर्शी पूज्य ऋषि-महर्षियों ने शास्त्रों में बताये हैं, उनके वास्तविक रहस्यों को पूर्णतः हृदयङ्गम करते हुए तदनुसार चलने से साधक को अवश्य ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु शास्त्रों में अनेक सम्प्रदाय तथा विभिन्न मत-मतान्तर के विचित्र वर्णन तथा अपूर्व प्रतिपादन के कारण उनका यथार्थ रूप महात्मा पुरुषों के सिवा अन्य की समझ में आना कठिन ही है। फिर वर्तमान वातावरण के प्रभाव में श्रद्धा-विश्वास की बढ़ी हुई कमी के कारण शास्त्रों के उपदेशानुसार चलना तो दूर रहा, उल्टे उनको काल्पनिक एवं निर्मूल बताते हुए उनका मखौल उड़ाया जाता है।

ऐसी दशा में मनुष्य सत्यतापूर्ण तत्व निश्चित नहीं कर पाता। उसे यह ज्ञान नहीं कि इस असार संसार में मनुष्य विशिष्ट रूप में अधिकृत होकर आया है, और जीवन की सफलता मानव का प्रधान उद्देश्य है। संसार की उलझनों में जीवन की ये अमूल्य घड़ियाँ बीती जा रही हैं, और दुनिया की मुसाफिरी निस्सार प्रवृत्तियों में नष्ट हो रही है, इस अमूल्य ज्ञान के प्रति उसके पास साधारणतः उपेक्षा-भाव होता है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य से पराङ्मुख होकर "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्" के

चक्कर में फँसकर भयङ्कर यातनाएँ भोगा करता है। इसीलिये परम दयालु पूज्यपाद श्रद्धेय श्री स्वामी जी महाराज ने कलि-मल-कलुषित दुःखाकुल मनुष्यों के कष्ट विनाशनार्थ इस 'सिद्धान्त-रहस्य' नामक ग्रन्थ के लिखने का अनुग्रह किया है। इसमें शास्त्रों के प्रायः सभी विषयों का अपूर्व समन्वय करते हुए उनके सिद्धान्तों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। मानव-जीवन को सफल बनाने के लिये साधनामय जीवन होना चाहिये, और इस हेतु सर्ववादि सम्मत सिद्धान्तों का परिज्ञान परमावश्यक है। बिना सिद्धान्त का आश्रय लिये कोई भी बात निश्चित रूप से नहीं जानी जा सकती। सिद्धान्तों का निर्णय जानने पर ही मनुष्य निःसन्दिग्ध रूप से व्यवहार कर सकता है। अतएव सिद्धान्त-रहस्य की इस मणि-माला में ग्रथित १०९ सिद्धान्त मानव-जाति के कल्याण में सर्वथा समर्थ हैं।

आचार्य गौतम ने 'सिद्धान्त' की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि 'तत्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः—' अर्थात शास्त्र के निर्णय किये हुए अर्थ को सिद्धान्त कहते हैं, यथा 'वादिप्रति-वादिभ्यां निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः'—अर्थात, वादी-प्रतिवादी द्वारा अर्थ का जो निर्णय होता है, वही 'सिद्धान्त' है। सिद्धान्त की यह व्याख्या दार्शनिक तत्वों के निर्णय के लिये प्रायः प्रयुक्त होती है, तथापि व्यावहारिक अर्थों के निर्णय के लिये भी इसका उपयोग भली प्रकार किया जा सकता है। जो बातें जाँच के बाद निश्चित होती हैं तथा आचरण में जिनका व्यवहार किया जाता है, प्रायः वे ही 'सिद्धान्त' की संज्ञा का अधिकार रखती हैं। रुचि-वैचित्र्य से सिद्धान्तों में पृथक्ता भी है जो विभिन्न संप्रदायों में आश्रय पाती है। किन्तु इस पुस्तक में सर्वतंत्र सिद्धान्तों का ही प्रधानतः

संकलन हुआ है। व्यवहार में बारी-बारी से आने वाले विषय, ज्ञानी पुरुषों के विचारों पर उनका प्रभाव, तथा महात्माओं द्वारा समय-समय पर उनका निर्विरोध प्रत्यक्षीकरण- इत्यादि बातें मिलकर सर्वतंत्र सिद्धान्त की रचना करती हैं। सिद्धान्त के और भी भेद हैं, परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में एक न्यून और व्यापक रूप में ही उनका विवेचन है।

पुस्तक में सर्वप्रथम आचरण-सम्बन्धी ५२ बातें दी गई हैं। उपक्रम में 'आचारः प्रथमो धर्मः' के अनुसार आचरण के प्रकरण का होना बहुत ही समीचीन और महत्वपूर्ण है, क्योंकि शुद्ध आचरण के बिना कोई भी व्यक्ति सन्मार्ग पर चलने में सर्वथा असमर्थ है। पुस्तक के बताये हुए सिद्धान्त बहुत ही विशद रूप में कहे गये हैं, और उनका सुगम प्रतिपादन हुआ है। यदि इन सिद्धान्तों में से मनुष्य एक बात का भी पूर्ण अनुयायी हो जाय तो उसका उद्धार दूर नहीं।

दूसरे प्रकरण में योग के मन्त्र, हठ आदि प्रकारों का सरल सार-गर्भित वर्णन किया गया है, जो योगी साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि यह विषय संक्षेप में कहा गया है, तथापि प्रायः सभी उपयोगी विषय इसमें सन्निहित हैं।

तीसरे प्रकरण में विवादों के बीच भक्ति एवं उपासना के रहस्य का स्पष्टीकरण अत्यन्त सुन्दर ढंग से हुआ है। पुराणों में कहे हुए आख्यानों की संगति, मूर्तियों का रहस्य, वाहनों का वैज्ञानिक विवेचन, पञ्चदेव उपासना का तात्विक रूप, तथा सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, आदि शक्तियों के योग का वर्णन अपूर्व है।

T

चौथे प्रकरण में शक्ति के तत्व तथा ज्ञान के स्वरूप का निर्णय गम्भीर विवेचनात्मक रूप से हुआ है। साथ ही सांख्य-वेदान्ती का संवाद युक्तिपूर्ण और रोचक है।

अवशिष्ट प्रकरण में भक्ति-मार्ग के साथ सामञ्जस्य रूप में ज्ञान-योग का वर्णन, ज्ञानी-भक्त का सगुण-निर्गुण विषयक संवाद, पञ्चदेव के भक्तों के लक्षण आदि विषय यथायोग्य स्थान में समुपस्थित करते हुए विचारों की एक अनोखी माला तैयार की गई है।

ग्रंथकार ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से सिद्धान्त के रहस्यों का संकलन सब विरोध-भाव को हटाते हुए किया है। सिद्धान्तों का चयन वस्तुतः बहुत ही उपयुक्त हुआ है। पुस्तक की भाषा सुन्दर, सरल और सुबोध है, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। शास्त्रों के वे गहन सिद्धान्त जो समझने पर भी समझ में नहीं आते, प्रस्तुत पुस्तिका के मनन से सहज ही अवगत हो जाते हैं। सचमुच हिन्दी-संसार में यह पुस्तक अपने ढंग की अनोखी सिद्ध होगी।

ग्रंथ के लेखक श्रद्धेय श्री स्वामी जी महाराज के परिचय के लिये पाठकों में स्वभावतः एक इच्छा होगी, परन्तु उन्हें केवल इतने से संतोष करना चाहिये कि श्रीस्वामीजी एक विद्वान सन्यासी महात्मा हैं, जिनके हृदय में पीड़ित मानव-जाति के लिये सदैव प्रेम का वारि उमड़ता है। अपने सम्बन्ध में स्वामी जी ने कदाचित् ही किसी को कुछ बताया हो; उन्हें समझने वाले उन्हें जो कुछ समझते हैं वह अपनी प्रतीति से। वास्तव में महात्माओं का परिचय तो उनके विचार हैं, जो पाठकों के समक्ष उपस्थित

T

हैं। बड़े सौभाग्य की बात है कि हम दतिया-निवासियों पर आपका विशेष अनुग्रह रहता है। आपके कल्याणकारी सदुपदेश से यहाँ के प्रसिद्ध श्री वनखण्डेश्वर के स्थान पर श्री पीताम्बरा पीठ की स्थापना हुई है, जहाँ समय-समय पर धार्मिक उत्सवों का आयोजन होता है। विशेष अवसरों पर आप उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता, पञ्चदशी आदि के प्रवचनों-द्वारा भी सर्व साधारण को कृतार्थ करते रहते हैं। गत विक्रमीय सम्वत् १९९३ के पुरुषोत्तम मास में आपकी शुभ प्रेरणा से एक सप्ताह तक अखण्ड भगवन्नाम-संकीर्त्तन महायज्ञ हुआ था, जिसमें 'हरे राम हरे राम०' की ध्वनि से समस्त नगर गूँज गया था।

स्वामी जी के समीप भक्ति, योग, ज्ञान आदि शास्त्रीय विषयों की चर्चा प्रायः होती रहती है। त्याग, विरक्ति और शान्ति की मूर्त्ति के रूप में आपके दर्शन एवं उपदेश से कभी तृप्ति नहीं होती। आपकी विषय-विवेचन की शैली बड़ी सुन्दर और आकर्षक है। प्रस्तुत पुस्तक में ये सभी विशेषताएँ प्रतिविम्बित हो रही हैं, और विज्ञ पाठकों को निश्चय ही दृष्टिगोचर हो सकती हैं।

'सिद्धान्त-रत्न-मणि-माला' किस प्रकार की बनी है, इस पर कुछ विशेष राय देने का अधिकार मुझे नहीं, और न मुझमें ऐसी योग्यता ही है कि मैं ऐसे गम्भीर विषय पर कुछ विचारपूर्ण सम्मति प्रकट कर सकूँ। मैंने तो केवल श्री स्वामी जी महाराज की आज्ञा का पालन किया है। इस विषय में विचारशील विद्वान महात्मा ही ठीक कह सकते हैं। इतना निवेदन मैं अवश्य करना चाहता हूँ कि व्यवहार, योग, उपासना, वेदान्त आदि सूक्ष्म विषयों पर ऐसा सरल निबन्ध इसके पूर्व मेरे देखने में नहीं

आया। आशा है, पाठकों को इस ग्रन्थ से समुचित सन्तोष प्राप्त होगा, और वे इनके व्यवहार से अपने जीवन को सरल बनाकर परमात्मा के अनुग्रह के पात्र बनेंगे।

अन्त में, मैं मण्डल को उसके ऐसे गौरव-पूर्ण प्रकाशन के लिये बधाई देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। मंडल से मेरा विनीत परामर्श है कि उसने अपने कार्य का जो सुन्दर आरम्भ किया है, उसी एक मार्ग पर चल कर वह नूतन सफलता का चिन्तन करे। पुस्तक में जो सहायता हिन्दी के सुलेखक श्री हरिमोहन लाल जी वर्मा, बी० ए०, साहित्यरत्न से प्राप्त हुई है, उसके लिये मैं और मण्डल उनके विशेष आभारी हैं, तथा उन्हें इस शुभ सहयोग के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

❀ दतिया ❀
विजयादशमी, सं० १९९५ वि०

बलवीरसिंह,
'साहित्य-भूषण'

T

अनुक्रमणिका

T

❀ ॐ तत्सत् ❀

सिद्धान्त-रहस्य

अर्थात्

"सिद्धान्तरत्न-मणिमाला"

मनुष्य का जीवन बहुत ही अमूल्य है। जितने भी उत्तम पदार्थ प्राप्तव्य रूप से शास्त्रों में विहित हैं; उनका अधिकारी मनुष्य ही है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि इसी जीवन में हो सकती है। परम पुरुषार्थ रूप परमात्मा की प्राप्ति भी मनुष्य ही कर सकता है, तथापि इस संसार-जाल में उलझ कर मनुष्य इस रहस्य को नहीं जान पाता कि वास्तविक मार्ग कौन है, जिस पर चलते हुए अपने गन्तव्य-स्थान को पहुँच कर शान्ति लाभ कर सके। सद्गुरु, सच्छास्त्र और सत्सङ्ग ही इसे बता सकते हैं, क्योंकि सत् सिद्धान्तों का परिचय इन्हीं के द्वारा होता है। इन्हीं तीनों बातों का आश्रय लेकर इस माला की रचना की गई है। इनमें सबसे प्रधान आचरण है, और शेष बातें बाद में हैं। इसलिये सर्वप्रथम उन्हें ही प्रथन करते हैं।

१—अधिकार के बिना किसी विषय पर बोलना व्यर्थ है।

२—वागिन्द्रिय का संयम मनुष्य की बहुत सी आपत्तियों का निवारक होता है। इसलिये मौन का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु वाणी से न बोलने का नाम मौन नहीं है। वास्तव में यह मनका साधन है। "मौनमात्मविनिग्रह:"-अर्थात्, मौन मन के निग्रह को कहते हैं। स्वामी स्वरूपानन्द ने इस पर अपना एक सुन्दर नोट इस प्रकार दिया है:—

Maunam is the result of control of thought so far as it concerns speech or it may mean the condition of the muni-practice of Meditation. अर्थात्—वाणी से सम्बन्ध रखने वाले विचारों के संयम का परिणाम ही मौन है, या मुनि की अवस्था को मौन कह सकते हैं; ध्यान के अभ्यास को भी मौन कहते हैं।

३—शब्द अर्थ का बीजांकुरवत् अनादि सम्बन्ध है। सृष्टि के प्रथम काल में ये दोनों परम कारण में शक्ति रूप से रहते हैं, और अवसर पाकर प्रकट होते हैं। जिस प्रकार गुण परिणाम नाना प्रकारात्मक अर्थ रूप धारण करता है, वैसे ही शब्द भी अनेक रूप धारण करता है। प्रत्येक शब्द एक तथा अनेक अर्थों का व्यञ्जक होता है। जिस प्रकार अर्थ में विधि निषेधात्मक व्यवहार होते हैं कि अमुक कार्य करना चाहिये अमुक नहीं, वैसे ही शब्द के भी विषय में है। सत्य, प्रिय, हित शब्दों का बोलना उत्तम तथा कटु, निरर्थक, निन्दात्मक शब्दों का व्यवहार निषेध कोटि में है; विहित शब्दों में भी तारतम्य है। सात्त्विकज्ञान, योग, भक्ति, उपासना, दया, उपकार, श्रद्धा, धर्म, देवता, ऋषि आदि विषयों को प्रकट करने वाले शब्द उत्तम कोटि के हैं। राजा, धनिक आदि

मध्यम, खाट, लोटा, घट, पट आदि तृतीय श्रेणी के, तथा गाली गलौज आदि निषिद्ध कोटि के हैं। प्रायः यह बात अनुभव में देखी गई है कि मन्त्र, जप, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, प्रिय शब्द का व्यवहार करने वालों के लिये ही महात्मा, विद्वान, हितैषी आदि शब्दों का व्यवहार किया जाता है। इन्हीं के द्वारा मनुष्य के उत्तम गुणों का परिचय मिलता है कि अमुक पुरुष कहाँ तक शक्ति, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, प्रेम, जगद्‌हित को अपने अन्दर व्यक्त करता है। इन समस्त भावों का सम्मिलन शब्दों द्वारा ही होता है। शास्त्र में सत्य, प्रिय, हित शब्दों के व्यवहार करने का संकेत इसी अभिप्राय से है। जब कभी मनुष्य को असहनशील क्षुद्र, कामी, निर्विचार, मूर्ख, अभिमानी, कपटी, निन्दक, गर्वी पाते हैं, उसका एक मात्र कारण इन भावों को व्यक्त करने वाले निषिद्ध शब्दों का व्यवहार करते हुए देखा गया है। इसलिये उत्तम भावों को प्राप्त करने के लिये विहित शब्दों के व्यवहार का अभ्यासी होना चाहिये; इसी से मनुष्य का प्रथम परिचय होता है कि वह किस कोटि का है।

४—वास्तव में वेद, उपनिषद, गीता, पुराण आदि ग्रन्थ समुदाय वाङ्मय के औचित्य और चरम विकास के इतिहास हैं। यथार्थतः इन्हें ही मनुष्य जाति का इतिहास कहना चाहिये, केवल उत्पत्ति, मरना आदि लौकिक साधारण बातों का ही विचार इतिहास नहीं कहलाता। जिस जाति में ये बातें नहीं हैं, वास्तव में बिना जीव के शरीर के ढांचे के माफिक ही वह जाति है। आर्य जाति का श्रीमद्भगवद्‌गीता ग्रन्थ विचारों तथा शब्द-औचित्य का सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों से ही मनुष्य के विकास का इतिहास लिखना इतिहासकारों का मुख्य कर्तव्य है। केवल बाहरी सभ्यता का निरीक्षण करना या उसके अनुसार उन्नति और ह्रास

का निर्णय एकदेशीय और अधूरा है। शब्द-औचित्य के ज्ञान के लिये उक्त ग्रन्थों का अभ्यास साधक को करना अत्यन्त हितकर है।

५—किसी के विषय में परोक्ष में या सम्मुख अपनी एक राय रक्खो। यदि किसी कारण वश अप्रिय सत्य न कह सको या सुनने वाला उसे सुनना ही न चाहे, तो किसी भी अवस्था में उसकी चर्चा मत करो। प्रायः देखा गया है, झूठी सभ्यता या लौकिक प्रतिष्ठा के नशे में आकर मनुष्य हलकेपन का उद्‌गार निकाला करता है, जो द्वेष या मखौल उड़ाने से सम्बन्ध रखता है। कभी-कभी तो ऐसे व्यवहार से बड़ी हानि होती है, बड़े-बड़े फ़िसाद रामायण, महाभारत-जैसे इसी के उदाहरण हैं। आज कल जो दंगे फ़िसाद होते हैं उनमें भी अधिकतर यही बात पाई जाती है। ऐसे भावों को निन्दा, पिशुनता आदि शब्दों से शास्त्रों में कहा गया है।

६—जिससे व्यवहार रखना हो उससे साफ़-साफ़ रक्खो। यदि परिणाम में सुखावह और कथन में कटुता का अनुभव समय पर करना पड़े तो कोई क्षति नहीं। इसके विरुद्ध करने से व्यवहार सदैव के लिये पंगु बन जाता है। यदि व्यवहार रखना ही न हो, तो सम्बन्ध तोड़ कर भी शान्त हो सकते हैं।

७—देखा गया है कि बहुत से लोग बाहरी सम्बन्ध से अलग दीखते हैं, और लोगों को वैसा ही बताते भी हैं; तथापि मनमें उन्हीं छोड़े हुए संब-धों के विषय की बड़ी लंबी चौड़ी स्कीम (Scheme) बनाया करते हैं। किसी ने अपने साथ अपकार किया तो उससे किस प्रकार बदला लेवें, अमुक को किस तरह गिरावें या उसका अनिष्ट कैसे हो,--इत्यादि बातें वे सदैव सोचा करते हैं, और ये अत्यन्त हानिकर परिणाम पर

पहुँचाने वाली हैं; यही प्रतिहिंसा आदि के रूप में परिणत होकर अनर्थ को उत्पन्न करती हैं। अत: इनसे बचने का प्रयत्न अत्यन्त आवश्यक है।

८—किसी के विषय में दूसरे लोगों के विचार के अनुसार अपना भी मत स्थिर न करलो। जब तक उस बात की पूर्ण परीक्षा न कर लो, तब तक कोई बात तै कर लेना हानिकर है। जाँच के बाद चाहे वह बात सत्य ही सिद्ध हो, तथापि विचार करना आवश्यक है। जो पुरुष केवल कान ही रखते हैं, उन्हें पश्चात्ताप की ज्वाला में भस्म होना पड़ता है।

९—कोई भी कार्य करना हो तो कर्मयोगी को सबसे पहिले साधन, परिणाम, लोक-कल्याण और आत्म-कल्याण पर दृष्टि डालना चाहिये। इन चारों बातों में जिसकी कमी हो उसे ही सर्व प्रथम पूरा करने का उपाय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त विरोधी शक्ति भी कर्मयोगी के साथ टक्कर लेती है, परन्तु शान्ति, क्षमा, विचार और आत्म-संयम से वह निष्फल हो सकती है। यदि पूर्वोक्त चारों बातों में भोग, लोभ, गौरव, प्रतिष्ठा, दल-बन्दी और द्वेष का स्थान होगा तो कार्य दृढ़ नहीं हो सकता। किसी लौकिक बुद्धि से जो कार्य किया जाता है, वह अभिचार के लिये ही होता है। कार्य आरम्भ करने के पहले इस सूत्र का मनन करते हुए चित्त--वृत्ति को सम करना चाहिये और समय पर आवश्यकीय कार्यों के करने का अभ्यासी बनना चाहिये। जो टाइम की पाबन्दी नहीं करता वही फ़ेल हुआ करता है।

१०—-अपनी त्रुटि को मानने वाला ही सुधार कर सकता है। जो त्रुटियों को झूठ से छिपाना चाहता है, वास्तव में वह बहुत-सी उलझनों को स्वयं उत्पन्न करता है, तथा अनेक झूठ

उसे बोलना पड़ती है। ऐसा करने वाला अत्यन्त शोचनीय अवस्था को पहुँचता जाता है। इससे त्रुटियों का समुदाय उसके सामने बढ़ता जाता है, और अन्त में वह सर्वनाशको पहुँच जाता है।

११—यह ध्रुवसत्य है कि तुम बाह्य संसार से आशा रखने वालों को संसार वही कर सकता है, जो तुम उसके लिये करते हो। जो कुछ इस अवस्था में तुम्हें मिल रहा है वह तुम्हारा ही किया हुआ है। इसके लिये कोई अदृष्ट कारण मानना व्यर्थ है।

१२—व्यर्थ बकवाद में समय बिताना, दुर्व्यसनों में लगे रहना, ताश आदि खेलों में रुचि रखना, अपने जीवन के अनावश्यक कार्यों को करना, निन्दा कुचेष्टा करते रहना निरुद्देश्य जीवन वाले मनुष्यों के लक्षण हैं। अल्पाहार, मित भाषण, दीनों की सहायता, परमात्मा में दृढ़ विश्वास, सत्य भाषण, निरपेक्ष सेवा भाव, राग-द्वेष का त्याग, और समस्त प्राणियों में प्रीति का होना अच्छे पुरुषों के लक्षण हैं।

१३—कोई भी कार्य शास्त्र शिष्टानुमोदित होने से ही उसे मानने लगना ठीक नहीं है। जब तक स्वयं करके अनुभव न कर लिया जाय, तब तक अज्ञान किसी न किसी कोटि में रहता ही है। सम्भवतः वह विषय सर्वथा सत्य ही हो, तथापि जब तक अपना अनुभव न हो, तब तक किसी सिद्धान्त का अनुयायी होना कभी लाभप्रद नहीं है। इसलिये किसी सिद्धान्त के समीक्षण में (गुण-दोष विचार में) आदमी को जल्दी नहीं करना चाहिये। आज जो बात हमारे अनुभव में आई है, शायद यथार्थ सत्य न होकर कल वह झूठी भी हो सकती है। इसलिये इस अधूरी जिम्मेवारी पर कोई बात किसी को नहीं बताना चाहिये।

१४—जो मनुष्य संयम , नियम, सद्विचार और उद्योग से पीठ फेरते हुए भी महत्वाकांक्षी है, वह मानों मृगमरीचिका के जल से प्यास बुझाना चाहता है।

१५—सत्य भाषण और सत्य व्यवहार ही सफलता की सब से बढ़ कर सुन्दर रीति है। जब कभी असफलता देखने में आवे तब किसी न किसी रूप में अन्वेषण करने से अवश्य असत्य मिलेगा। इसके लिये ईश्वर और कर्म को दोषी ठहराना अज्ञान है। "सत्य प्रतिष्ठायाँ क्रियाफलाश्रयत्वम्" (यो० २, ३६) अर्थात, सत्य की प्रतिष्ठा होने पर ही समस्त क्रियाएँ सफल होती हैं।

१६—मनुष्य का शरीर सभी प्रकार की शक्तियों का अभिव्यञ्जक अधिष्ठान है। योग की सहायता से मनुष्य जिस वस्तु को चाहे, उसे प्राप्त कर सकता है। मन ही इस (Power-house) का मुख्य (Engine) है, उसी के द्वारा सब की अभिव्यक्ति होती है। बाह्य विज्ञान की उन्नति जो इस समय देखी जाती है, उसकी भी कल्पना वैज्ञानिकों के मन में ही पहले पहल प्रादुर्भूत हुई थी। स्वर्ग, नरक, मोक्ष सभी वस्तुएँ मन में ही रहती हैं। यह दृश्यमान सारा जगत मन की ही कल्पना है, मनके शुद्ध होने पर ही जितनी अच्छी बातें हैं मनुष्य को मिल सकती हैं। इसलिये मन को शुद्ध पवित्र करना तथा एकाग्र बनाने का अभ्यासी बनाना ही उन्नति का प्रथम उपाय है। महर्षि पतञ्जलि ने इसी के निरोध से अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति बताई है। परमसुख ब्रह्मानन्द भी मन के शुद्ध और पवित्र होने पर ही प्राप्त हो सकता है। "मनएव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः" अर्थात-मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है।

T

१७—अपने अपराधी को क्षमा करना धीर पुरुष का ही मन है, क्योंकि बुराई करने वाले के द्वारा अपना स्वार्थभङ्ग होते देख कर मनुष्य झट उसकी भी बुराई करने में तत्पर हो जाता है। इस तरह राग से मिश्रित होकर द्वेष द्विगुणित रूप धारण करता है, और क्लेश का प्रहार होने लगता है। वास्तव में क्रोध का प्रतीकार क्रोध से नहीं होता ! इससे तो मलिनता तथा ज्वलनात्मक भाव और भी अधिक बढ़ता जाता है, इससे शान्ति नहीं मिल सकती। विरोधी के विरोध भाव को दूर करने की चीज़ तो क्षमा है, इसीसे विरोधी पर विजय प्राप्त की जा सकती है। "क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति। अतृणे पतितोवह्निः स्वयमेवोपशाम्यति"—यदि क्षमा रूपी हथियार पास है तो खल पुरुष क्या कर सकता है ! जैसे विना तृण के स्थान में अग्नि स्वयं ही बुझ जाती है, वैसे ही खलों की इससे नहीं चलती।

१८—सात्त्विक भावों के उद्रेक से सद्विचार, ध्यान, उपासना और लोक तथा आत्मा का कल्याण करने वाले शुभ कर्मों की प्रवृत्ति होती है। इनमें सब से बढ़ कर विचार है, परन्तु योगाभ्यास के बिना सात्त्विक भावों का उद्रेक, आनन्द का प्रवाह एवं सद्विचार की स्थिति नहीं हो सकती। आनन्द भी सद्विचार से ही प्राप्त होता है। राजस, तामस, भावों के रोकने के मुख्य उपाय भजन, अभ्यास, सत्संग ही हैं। ये तीनों साधन योग के प्रधान कारण हैं। योगमार्ग से चलने वाले साधकों को इनका पालन अत्यन्त आवश्यक है।

१९—कोई भी सद्विचार (इष्ट ध्यान आदि) चित्त में स्थिर करने का अभ्यास करना अधिक से अधिक उसी विचार में मग्न रहने का अभ्यासी बनाना ही बुराइयों एवं बुरे विचारों से

बचने का प्रधान उपाय है। बाह्य साधना भी चित्त एकाग्र करने में सहायता करती है, तथापि मानसिक साधना ही इसको पूर्ण करने में पूर्ण समर्थ है; उसी से विचारों में स्वच्छता आती है। इसकी पूर्ण सिद्धि तभी होती है, जब बुरे विचार का मनुष्य कितना भी प्रहार करे, परन्तु साधक किञ्चित भी अपने निर्णय से विचलित न हो सके; इसे ब्रह्मास्त्र कह सकते हैं, क्योंकि यह किसी भी दशा में निष्फल नहीं होता।

२०—सहनशक्ति (तितिक्षा) को बढ़ाना चाहिये। इसी से विवेक और सद्‌विचार की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। पराधीन ज्ञान का विचार रखना यह भी एक प्रकार की दासता (Slavery) है, जो आलसी मनुष्यों को झट पकड़ लेती है। इस सहन-शक्ति के प्राप्त होने पर शत्रुओं की शक्ति पराभूत हो जाती है। यह ऐसा शस्त्र है जो मनुष्य को सफलता के निकट पहुँचाता है, तथा विरोधियों को निष्प्रभ कर देता है।

२१—रोग के निवृत्त होने पर मन की निर्मलता, शरीर का हलकापन जैसा रहता है, वैसा यदि सदैव स्थैर्य रहे तो मनुष्य विचार मार्ग में अतिशीघ्र उन्नति कर सकता है। आहार में राजस पदार्थों के सेवन के बाद तामस तत्त्वों की अधिकता होकर व्याधि की उत्पत्ति होती है। विचार की उन्नति चाहने वालों को इसका ध्यान रखना चाहिये; विपरीत विचारों द्वारा ही ऐसा होता है। इसलिये आहार के विषय में विचार का संयम परम आवश्यक है। राजस, तामस, तत्त्वों को सात्त्विक तत्त्वों से अधिक नहीं होने देना चाहिये।

२२—आहार की शुद्धि से ही मन शान्त और शुद्ध होता है, आहार में जाति, निमित्त और आश्रय-इन तीन दोषों का

विचार होना आवश्यक है। इन तीनों दोषों का सम्बन्ध अन्न में रहता है—(१) जाति दोषयुक्त पदार्थ—लहसुन, प्याज, माँस, मद्य, मिरच, गाँजा, भाँग आदि जो जाति से ही दुष्ट हैं, इनके उपयोग से मन व्यग्र होता है, और बुद्धि नष्ट होती है। (२) उच्छिष्ट, मक्खी, मच्छर आदि जन्तुओं के सम्पर्क से जो अन्न में दोष उत्पन्न होता है, उसे निमित्त कहते हैं, 'स्पर्शास्पर्श' दोष भी इसी दोष के अन्तर्गत है। (३) विहित अविहित उपायों का विचार न करके जो अन्न उपार्जन या ग्रहण किया जाता है, उससे आश्रय दोष का सम्बन्ध होता है। इसलिये मनु ने कहा है—"आलस्या-दन्न दोषाच्चमृत्युर्विप्रान् जिघांसति" अर्थात्, आलस्य और अन्न दोष से ही ब्राह्मणों की मृत्यु होती है। इन तीनों दोषों से रहित शुद्ध अन्न के ग्रहण से ही मन शुद्ध होता है। मन अन्न के सूक्ष्म अंश से बनता है; श्रुति में भी "अन्नमयं हि सोम्यमन:"—अर्थात् हे प्रिय, अन्नमय ही मन होता है, ऐसा कहा गया है। जैसा अन्न भक्षण किया जाता है, वैसा ही मन बनता है। इसीलिये श्रुति में कहा है—'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्व शुद्धौ ध्रुवास्मृतिः। स्मृति लाभे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७- -) अर्थात् आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है; अन्तःकरण के शुद्ध होने पर निश्चल स्मृति प्राप्त होती है, ऐसी स्मृति के होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों का विनाश होता है। इसलिये विचार की उन्नति चाहने वालों को इसका स्मरण रखना अत्यन्त आवश्यक है।

२३—मनुष्य की त्रुटियाँ, हठ, और अकर्मण्यता ही उस पर विपत्तियों का अवसर उपस्थित करती हैं। इसलिये विपत्काल में इन्हें जानकर इनके दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर-भजन तथा सत्संग द्वारा मनुष्य को यथार्थ सहायता प्राप्त होती है, तथापि

इस अवस्था में कर्त्तव्य मुख्य है, क्योंकि बेकारी की अवस्था में ही मनुष्य दुर्विचारों का स्थान बनता है। पुनः उन से ही मनुष्यों के दुःखों की उत्पत्ति होती है। "कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं कर्मज्या योह्य कर्मणः"—अर्थात् कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है, इसलिये कर्म करो-इस गीता वचन में यही तत्व कहा गया है।

२४- हरेक मनुष्य के साथ कुछ न कुछ कर्त्तव्य का सम्बन्ध लगा हुआ है; विना कुछ किये कोई भी इस अनवरत संसार में क्षण-मात्र नहीं ठहर सकता। हरेक कार्य का मन पर अवश्य अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे संस्कारों की सृष्टि होती है; उनमें भी मनको जो अधिक अच्छे लगते हैं उनकी वासना से तृष्णा उत्पन्न होकर उनके फलों की प्राप्ति के लिये मनुष्य व्यग्र होता रहता है। बस यही तत्व लौकिक प्रवृत्ति में प्रधान रूप में काम कर रहा है। इस लक्ष्य को समझ कर हरेक प्रवृत्ति का परिचय सरलता से किया जा सकता है।

२५—तृष्णा मूलक प्रवृत्ति शान्ति और सुख का हेतु नहीं है, क्योंकि "लाभाल्लोभः प्रवर्तते"—"लाभ से लोभ बढ़ता है" के अनुसार लोभ की वृद्धि होने पर शान्ति से मनुष्य वञ्चित होता जाता है। इसीलिये तृष्णामूलक सकाम प्रवृतियों का सर्वथा त्याग शास्त्र में बताया है। कोई-कोई महानुभाव विहित प्रवृत्ति का त्याग पसन्द नहीं करते, उनके विचार से कर्मों में तृष्णा का होना ही बन्धन का हेतु है, जो फल के त्याग से निवृत्त हो जाती है; फिर चित्त की व्यग्रता नहीं होती। इसलिये इन विहित सकामी कर्मों के त्याग की आवश्यकता नहीं है। कर्ममार्ग में दोनों मत सन्यास और त्याग के नाम से माने जाते हैं। "काम्यानां कर्मणां न्यासः संन्यासं कवयो विदुः। सर्व कर्म फल-

त्याग स्त्यागं प्राहुर्विचक्षणाः ॥ (गी० १८,२)"—काम्य कर्मों के न्यास को संन्यास एवं सभी कर्मों के फल के त्याग को त्याग कहते हैं।

२६—मुमुक्षु साधकों का कर्म के विषय में नित्य, नैमित्तिक, काम्य, निषिद्ध, और प्रायश्चित्त—इन पाँच प्रकार के कर्मों की संगति इस प्रकार लगाई जाती है:—नित्य के होने वाले स्नान सन्ध्यादि कर्म नित्य कहे जाते हैं, पार्वण श्राद्धादि नैमित्तिक वृष्टि की इच्छा से कारीरी तथा पुत्र की इच्छा से पुत्रकामेष्टि आदि काम्य, ब्राह्मण-हनन, सुरापान आदि निषिद्ध, और निषिद्ध कर्म के आचरण से होने वाले दोष को दूर करने के लिये प्रायश्चित कर्मों का विधान शास्त्र ने किया है। काम्य, निषिद्ध और प्रायश्चित का तो स्वरूप से त्याग होता है; नित्य, नैमित्तिक कर्मों का आचरण अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला होने से परमात्मा ज्ञान का हेतु है। अतः उसका आचरण आवश्यक है।

२७—काम्य कर्मों के विषय में ज्ञानी लोग ऐसा कहते हैं कि निषिद्ध कर्मों के आचरण से हटाने के लिये ही इनका विधान है, वास्तव रूप में नहीं, क्योंकि मुमुक्षु के मार्ग में इनसे बड़ा भारी प्रतिबन्ध उपस्थित होता है। सकामी मनुष्य अपनी सभी इच्छाओं की पूर्ति के लिये ईश्वर से या भिन्न-भिन्न देवताओं से प्रार्थना करता रहता है, और वास्तविक उद्योग से मुँह फेरने का अभ्यासी बनता जाता है। "कृपणाः फल हेतवः"—इस वचन में यही तत्त्व कहा गया है, जिससे श्रद्धा, विश्वास, सन्तोष आदि शुभ गुण उसे छोड़ने लगते हैं और अन्त में वह मनुष्य पतित कोटि में पहुँच जाता है। योगी अरविन्द ने अपना विचार इस विषय में अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"But the

Supreme-Grace will act only in the condition of the Light and the Truth; it will not act in the condition laid upon it by the Falsehood and the Ignorance. For if it were to yield to the demands of the falsehood, it would defeat its own purpose. (The Mother-1-2)" अर्थात्-दिव्य शक्ति प्रकाश और सत्य की ही अवस्था में काम करेगी; अज्ञान या असत्य की अवस्था में जो अपनी ख्वाहिशों को उस पर चढ़ावेगा, उस अवस्था में वह अपना काम नहीं कर सकती। यदि प्रार्थना करने वालों की ऐसी माँगों को भी वह पूरा करने लगेगी, तो वह अपनी दिव्यता से च्युत हो जावेगी। ऐसी अवस्था में अज्ञान और विद्या में अन्तर ही क्या रहा, क्योंकि दिव्य शक्ति ऐसा करने पर अज्ञान का ही रूपान्तर सिद्ध हो जायगी। इसीलिये कामनायुक्त प्रवृति भी निषेध कोटि में ही है। "स शान्तिमाप्नोति न कामकामी"–इस वाक्य में निषिद्ध कोटि में ही काम्य–कर्म लिये गये हैं।

२८—जो पुरुष जिस किसी साधन–प्रणाली का अधिकार रखता हो, उसे उसी द्वारा आत्मकल्याण, शान्ति और अभ्युदय प्राप्त हो सकता है। इसका निश्चय न करके अन्ध--परम्परा न्याय से चलने से या तो मनुष्य साधना का दम्भी बनता जाता है या मनोभिलषित पदार्थ के न मिलने से उसका विरोधी हो जाता है, और साधना में दोषारोपण करने लगता है। अक्सर देखा गया है, बहुत से प्रतिष्ठाकामी मनुष्य भक्तों की मण्डली में सम्मिलित होकर भगवद्गुणानुकीर्तन के समय आवेश के आने पर दो–चार बिन्दु अश्रु के नेत्रों में दिखाने मात्र में ही भक्ति की इतिश्री करके अपने को कृतकार्य समझने लगते हैं। आवेश के चले जाने पर फिर ज्यों के त्यों रह जाते हैं। बहुत से पुरुष अपने विषय

भोग के लिये या हमारी प्रतिष्ठा बनी रहे, लोग मुझे भी परमार्थ मार्ग का पथिक समझें, इसलिये अन्य साधन प्रणाली को बुराई में तत्पर रहते हैं। यही बात ज्ञानी, कर्मी, योगी आदि के विषय में भी समझना चाहिये। वास्तव में ये अनधिकार चेष्टायें हैं; इनसे उन्नति न होकर अधःपतन ही होता है। साधकों को चाहिये कि हमारी साधना इस ओर तो नहीं जारही है, ऐसा हर समय निरीक्षण करते रहें। बहुत पुरुषों को योग ऐसे पवित्र विषय को दूषित बतलाते हुए देखा गया है; मन्त्र-तन्त्र को झूठा-जाली करते हुए कितनों को देखा गया है। वेद, शास्त्र, साधु, महात्मा, देवी-देवताओं को भी मिथ्या कहते हुए बहुत देखे गये हैं। इसका कारण मनुष्य की क्षुद्र स्वार्थपरता है, जो पूर्वोक्त बातों को सर्वथा अपने अनुकूल न देख कर बुराई में तत्पर हो जाता है,—मानों ये सारी सृष्टि आदमी के ही विचार के अनुसार चलने के लिये बनाई गई है। जैसै कोई मनुष्य कफदोष से ग्रस्त होने की अवस्था में दूध-ऐसे सुन्दर स्वादिष्ट पदार्थ को दुष्ट बताये, फिर वही पित्तदोपी होने पर उसकी उपयुक्तता सिद्ध करे, तो क्या उसके इस निर्णय से दूध के स्वरूप का निर्णय ठीक माना जायगा? क्या इसी बुराई–भलाई में पदार्थ का स्वरूप स्थित है? जैसे यह निर्णय अयुक्त है, वैसे ही उपर्युक्त विषयों को भी समझना चाहिये, क्योंकि अनधिकारा-वस्था का निर्णय निर्णय नहीं होता।

२९—तेईसवीं मणि में सत्संग का जिक्र किया गया है, अब उसे ही कहते हैं। सत्संग को आर्यग्रन्थों में अत्यन्त हितकारी और भगवत्कृपा लभ्य बताया है, तथापि सत्संग अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। बहुत समय सत्संग मानते हुए भी मनुष्य कुसंग का उपक्रम करता है, तो भी अज्ञतावश उसे सत्संग ही समझता है। इसी से

जो लाभ होना चाहिये, उसे वह नहीं प्राप्त कर सकता। कितने ही दम्भी पुरुष सत्संग के नाम से दम्भ फैलाने का कार्य कर रहे हैं, कितने ही जीविका के लिये सत्संगी का स्वांग करते हैं, बहुत से अनधिकारी पुरुष सन्त महात्माओं के वेश में सत्संग के नाम से भोले-भाले लोगों को ठगते हैं, कितने ही नैतिक षड्यंत्र Political propaganda भी सत्संग के नाम से करते हैं, यद्यपि ये बातें कोई नई नहीं है, तथापि यथार्थ सत्संग का निर्णय अवश्य साधारण बुद्धि वालों के लिये इस समय दुर्गम्य है; इसीलिये इसे दुर्लभ बताया गया है।

३०—बुरे कर्मों से अरुचि, वासनाओं का परित्याग, पूज्य पुरुषों में भक्ति, सत्‌सिद्धान्तों का आचरण, सरलता, निष्कपट भाव की ओर विशेषरुचि और भोग में अरुचि जब होवे, तब समझना चाहिये कि मुझ पर सत्संग प्रभाव कर रहा है। ये बातें जब प्राप्त हों, तब उसे समझना कि यथार्थ सत्संग यही है। जिन अलभ्य अनुभवों को महात्मा लोग वर्षों में अत्यन्त कठिनाइयों से प्राप्त करते हैं, वे सत्संग में सुलभतया प्राप्त हो जाते हैं। इसीलिये इसका महत्व सब मान्य ग्रन्थों में पाया जाता है। इससे चित्त की स्थिरता, ज्ञान-शक्ति का उदय, ईश्वर में प्रेम, सन्तों में पूज्य भाव, अनेक विषयों का परिचय, पारमार्थिक विषयों में श्रद्धा और उसका रहस्य-ज्ञान, तथा संसार की असारता का निश्चय सुगम रीति से हो जाता है; बिना सत्संग के मनुष्य का जीवन अनुभव शून्य एवं निरर्थक कहा गया है।

३१—पहले मन की शुद्धि के विषय में संकेत किया गया है। उसी विषय पर महर्षि पतञ्जलि की सम्मति इसप्रकार है-"मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम" (यो०१-३३) मैत्री, करुणा, मुदिता, और उपेक्षा

जो सुख-दुःख, पुण्य और अपुण्य विषयों से सम्बन्ध रखती है, उनकी क्रम से भावना करने से चित्त की प्रसन्नता होती है, अर्थात् सुखी के साथ मैत्री, दुःखी के साथ करुणा, पुण्यात्माके साथ मुदिता अर्थात प्रसन्न होना, दुष्टों के साथ उपेक्षा, अर्थात न प्रीति न द्वेष करना-इनके यथार्थ आचरण से चित्त प्रसन्न होता है। संक्षेप में गीता में यही तत्व इस श्लोक में इस प्रकार कहा गया है-"रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसाद-मधिगच्छति (गी० २-६४)"-"रागद्वेष से रहित होकर मन के अधीन इंद्रियों से विषयों का उपयोग करता हुआ मनुष्य प्रसन्नता को प्राप्त करता है"। योगसूत्र में जो तत्व कहा गया है, उसी की व्यावहारिक स्थिति इस श्लोक में कही गई है, वास्तव में ऐसी अवस्था में ही मन की उच्च अवस्था का परिचय होता है; क्योंकि विना व्यवहार के किसी वस्तु का परिचय अधूरा ही रहता है। जीवन-मुक्त का व्यवहार इसी कोटि का होता है, ऐसा व्यवहार आत्म-साक्षात्कार से ही निष्पन्न होता है। राग-द्वेष का अभाव आत्मज्ञान से ही होता है; "परंदृष्ट्वा निवर्तते"-इस वचन में यही बात कही गई है।

३२—जो महानुभाव कर्म, उपासना और ज्ञान-इन तीनों मार्गों का रहस्य जान गये हैं, उनके चित्त में स्वभावतः करुणा, दया, उपकार, प्रेम आदि शुभ गुणों का प्रवाह चलता रहता है। उन्हें ही 'सर्व भूत हितेरताः'-इस शब्द से गीता में कहा गया है। भगवान वासुदेव ने 'ज्ञानीत्वात्मैवमेमतम्' कहा है। जैसे आप समय-समय पर अबोध जनों को शिक्षा देने के लिये प्रकट होते हैं, वैसे ही व्यवहार उन सिद्ध पुरुषों का भी होता है। उसी को लोक-संग्रह कहते हैं, अपनी-अपनी भावना के अनुसार, उसे कर्म

योगी कर्मयोगी, भक्त लोग भक्त, तथा ज्ञानी परमज्ञानी कहते हैं। वास्तव में इन तीनों साधनाओं का फल जीवन्मुक्त पुरुष में ही देखा जाता है; उनका किसी के साथ विरोध नहीं होता, सर्वत्र समता आ जाती है। "इहैव तैर्जितः सर्गोयेषांसान्येस्थितंमनः"- जीवन्मुक्त पुरुष जीवनकाल में ही गुणों पर विजय प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उसका मन समत्व में वर्तमान रहता है। उनके वाह्याचार अवश्य भिन्न भिन्न रहते हैं,परन्तु वास्तविक एकता रहती है। उनके वाह्य आचार को देख कर अवोध जनों को सन्देह होता है, तथापि इससे उनकी कोई हानि नहीं होती। उन्हीं महात्माओं के नाम से अनेक पंथ संसार में प्रवृत कर लिये जाते हैं, तथापि उन महात्माओं की ऐसी सम्मति होती है, इसे निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मतवाद का दुरुपयोग काफ़ी हो चुका है।

३३—सत्पुरुष किसी जाति, कुल, देशकी अपेक्षा से नहीं उत्पन्न होते; न उनमें यह भेद मानना ही ठीक है। वास्तव में उनका परिचय तो त्याग से होता है। जिस किसी महापुरुष ने जितनी श्रेष्ठता प्राप्त की है, उसका सर्व श्रेय त्याग को ही है। इस लिये सत्पुरुष के पहिचान की यही सर्वोत्तम कसौटी है। चैतन्य, बुद्ध, नानक, कबीर, ईसा और मुहम्मद आदि इसके प्रमाण हैं। इस कसौटी को छोड़ कर बाहरी बातों पर विवाद करना व्यर्थ, और अज्ञानता है।

३४—जितने भी धर्म कहे गये हैं उनमें अहिंसा परम धर्म है। बिना अहिंसक हुए मनुष्य का कोई भी सदाचरण कुञ्जर शौचवत् ही है। जो किसी भी प्राणी को अपने स्वार्थवश पीड़ित नहीं करता, सब जगत को जो प्रेम दृष्टि से देखता है, वही सच्चा अहिंसावादी है।

३५—सत्य, अहिंसा, क्षमा, परोपकार आदि सात्त्विक गुणों का पालन करने के लिये सदैव बड़े लोग आदेश देते हैं, तथापि देश, काल, परिस्थिति के परिवर्तन से इनके आचरण में भेद हुआ करता है, क्योंकि जिसे हम लोग आम तौर पर सत्य या असत्य, हिंसा या अहिंसा, क्षमा या क्रोध, परोपकार या अनुपकार समझते हैं, कभी-कभी उसका रूप बदल जाता है; उस समय विपरीत ही ज्ञात होने लगता है। इसलिये इस सदाचार के अपवाद भी उपस्थित होते रहते हैं। कभी-कभी जिसे असत्य समझते हैं वही सत्य सा हितकर हो जाता है, जैसे विराट राजा के यहाँ पाण्डवों का अपना परिचय न देना, परशुराम का पिता की आज्ञा से अपनी माता को मारना, पृथ्वीराज का मुहम्मद ग़ौरी को क्षमा करना, धृष्टद्युम्न को द्रोणाचार्य का विद्या देना आदि, तथापि महात्माओं का निर्णय ऐसा नहीं है; उनके मत से तो सदैव इनका पालन करना चाहिये।

३६—लोक-प्रतिष्ठा, स्वार्थ, हिंसा, द्वेष, आदि दोषों से जिनका चित्त दूषित नहीं होता, उन्हीं पुरुषों के अन्त:करण में धर्म का स्वरूप प्रकाशित होता है। उनके जो वचन हैं वही शास्त्र कहलाते हैं। "महाजनो येन गतः सपन्थाः" वाली उक्ति उन्हीं शास्त्रों में घटित होती है। "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"—अर्थात् क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये, इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। गीता का यह संकेत उपर्युक्त अभिप्राय वाले शास्त्रों की ही ओर है।

३७—अपस्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, बुराई, लोभ जिनके अन्त:करण में रहते हैं, दूसरे किसी का भी उत्कर्ष जिन्हें अच्छा नहीं लगता, लोकहित के कार्यों में भी जो अपना स्वार्थ साधते हैं,

T

ऐसा न होने पर जो बुराई करने पर तत्पर होजाते हैं—ऐसे पुरुषों द्वारा धर्म की व्यवस्था माँगना या लेना वास्तव में मूर्खता है।

३८—जिस देश या समाज में देश, काल, परिस्थिति के अनुसार आचरण धर्म का विवेचन करने वाले नहीं होते, वह समाज या देश अधःपतन को प्राप्त होता है, क्योंकि विप्रलम्भक (बहकाने वाले), प्रतिष्ठाकामी, मानी इन्द्रिय परायण, विषयाराम पुरुष ही उस देश के उस समय नेता और भाग्य निर्णायक वन जाते हैं। उनका मुख्य कार्य सत्य के प्रकाशक महात्माओं को रोकना तथा उन पर तरह-तरह के झूठे लांछन लगाना और मूक प्रजा को अपने ही स्वार्थ के अनुकूल चलाना होता है—यदि कोई धार्मिक पुरुष अपने सिद्धांत का दृढ़ हुआ तो उसे जान से भी मार देना। महात्मा ईसामसीह, सुकरात, आदि का ऐसा दृष्टान्त इतिहास ग्रन्थों में पाया जाता है। शङ्कर, रामानुज, चैतन्य, वल्लभ, दयानन्द आदि के साथ जो बीती है, इतिहास पढ़ने वालों से छिपी नहीं। तथापि ऐसे पुरुषों द्वारा इन महात्माओं पर अन्याय होने पर भी इनकी तो क्षति हुई नहीं, क्योंकि ये महात्मा गण तो मृत्यु के भय से सर्वथा मुक्त थे, बल्कि इनके बलिदान से नसीहत लेने वालों के लिये यथेष्ट प्रमाण उपस्थित हो गया, जिससे धर्म मार्ग पर चलने वाले पथिक उनका सदैव आदर के साथ स्मरण करते रहेंगे। धर्म छोड़ देने पर भी तो एक दिन अवश्य मृत्यु का ग्रास होना पड़ेगा, फिर इससे क्यों विचलित हों-यह उनके जीवन का परम मन्त्र होता है, जो सच्चे धार्मिक पुरुष कहे जाते हैं। सच्चे महात्मा इस पञ्चतत्व के बने हुए शरीर में न रहते हुए भी जगत का हित अपने किये हुए उदाहरणों से करते रहते हैं; वे तो मृत्यु से परे अपनी आत्मा को सदैव देखते

हैं। इसलिये मौत का भय उन्हें ज़रा भी सिद्धान्त से विचलित नहीं कर सकता। गुरु तेग़ बहादुर, तथा गुरु गोविन्दसिंह के दोनों छोटे लड़कों का वृत्तान्त इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

३९—खल पुरुषों की बुद्धि में बुराई बहुत जल्दी असर करती है। पानी का बहाव ढालू ज़मीन की ही ओर होता है, मक्खी शरीर में घाव पर ही लक्ष्य रखती है, ऐसा ही दुष्ट स्वभाव का पुरुष होता है; उसे अच्छी बातों का उपदेश भी चाहे कैसी सुन्दर भाषा में दिया जाय, बुरा ही प्रतीत होता है। कभी-कभी ऐसे स्वभाव का मनुष्य समाधि, योग, भक्ति, वेदान्त की बातों को सीख 'सुसायटी' में बैठकर काफी सत्संगी अपने को बताता है; कभी-कभी कोरी विद्वत्ता दिखाने में वेद, उपनिषद, पुराण आदि ग्रन्थों का उद्धरण देकर अपने को सर्वज्ञ विद्वान सिद्ध करने का प्रयत्न करता है; कभी-कभी सन्त-महात्माओं के वेश में भी अपना प्रदर्शन करता है; कभी हम लेखक, व्याख्याता के भी रूप में उसे पाते हैं, तथापि ऐसा होने पर भी अवसर आने पर उसका असली रूप प्रत्यक्ष हो जाता है। बाहरी वेष, जैसे शिर मुड़ाना, जटा रखना, गेरुवा पहनना, तिलक धारण करना-वास्तव में दुष्टता को नहीं छिपाते। ये वेश तो दुष्कर्म करने वाले भी दुष्टता करने के लिये बनाते हैं। सीताहरण के समय रावण ने भी यति का वेष बनाया था, कालनेमि ने भी हनुमान को ठगने के लिये मुनि का वेष बनाया था, तथापि असली बात छिपी नहीं। "उघरहिं अन्त न होइ निबाहू, काल नेमि जिमि रावण राहू"—गो० तुलसीदास।

४०—दुष्ट लोग हमेशा सत्पुरुषों से अकारण वैर किया करते हैं। यह स्वभाव तो उनका सभी से होता है, तो भी उनके

प्रधान शत्रु सज्जन पुरुष ही होते हैं। ये लोग उनकी अपकीर्ति जहाँ तहाँ फैलाया करते हैं और उनको गिराना चाहते हैं, परन्तु इस उपाय से उनकी प्रसिद्धि बढ़ती ही जाती है, और योग्य पुरुषों की दृष्टि में उनका महत्व प्रकट होता जाता है। इस विषय पर महात्मा कबीर ने बहुत ही अच्छा कहा है—"निन्दक नियरे रखिये आँगन कुटी छवाय, बिन पानी बिन साबुना सहजहि करत सुभाय"। धन्य हैं वे महात्मा, जो बुरे से भी अच्छा ही पाठ ग्रहण करते हैं!

४१—जिसका चित्त शान्त नहीं है, विषयों से जो उपरत नहीं है, सांसारिक मान प्रतिष्ठा का जो इच्छुक है—चाहे वह बहुत सी किताबें पढ़ ले, लेखकों के बीच मान्य हो जावे, व्याख्यान दाताओं में वाचस्पति बन जावे, बाहरी चिन्हों से लोक में महात्मा कहला जावे, तथापि उसे शान्ति नहीं मिल सकती।

४२—जिनमें श्रद्धा, विश्वास नहीं है, जिनका चित्त सदैव घूमता रहता है, आज किसी के पास कोई बात पूछी तो कल उसी के विपरीत करने लगे, केवल बड़ी बड़ी बातें करना ही जिनका स्वभाव है, एक बात कहीं से मालूम कर ली तो उसी के बल पर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त हो गये, किसी भी विद्वान संत की परीक्षा करना कि ये इस बात को जानते हैं या नहीं, आज किसी की पूजा तो कल कुछ और ही आचरण, केवल नाम कमाने की भावना से परमार्थ मार्ग में प्रवृत्त होना—इत्यादि बातें ही जिनका स्वभाव है, वे वास्तविक शान्ति कभी नहीं प्राप्त कर सकते। गीता में ऐसे ही मनुष्यों के लिये कहा है—"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति"—जो अज्ञ, श्रद्धा रहित, संशय चित्त वाले हैं उनका विनाश होता है। विश्वास की महत्ता में कुलार्णवतन्त्र में कहा

गया है—"विश्वासायनमस्तस्मै सर्वसिद्धि प्रदायिने। येन मृद्दारु दृषदः फलन्त्य विफलं फलम्"—अर्थात् जिससे मिट्टी, लकड़ी, पाषाण भी निश्चित फलों को देने में समर्थ होते हैं, उस सम्पूर्ण सिद्धियों को प्रदान करने वाले विश्वास को नमस्कार है।

४३—किसी ने पूछा साधन सब से बड़ा कौन है जिस पर अपना विश्वास दृढ़ किया जाय? उ०—जिससे अपना कल्याण हो, बुरी भावनाओं का दमन हो, जो आत्म साक्षात्कार या भगवत साक्षात्कार का हेतु हो, वही साधन सब से बड़ा है। साधन-प्रणाली शैव, वैष्णव, शाक्त, कर्म, ज्ञान आदि भेदों से अनेक प्रकार की है, जो वास्तव में उपयुक्त लक्ष्य को ही सिद्ध करती है। अक्सर अबोध जन इस भेद को देखकर कलह किया करते हैं कि हमारी ही साधन प्रणाली सत्य एवं सर्वोपरि है, तथापि बात ऐसी नहीं है। जो जिसका अधिकारी है वह साधन उसके लिये सर्वथा सर्वोपरि है। वास्तव में गुण परिचय न होने से ही ऐसा प्रश्न उठता है।

४४—जो साधन भगवत्कृपा या सद्गुरुकृपा से प्राप्त होता है वही मनुष्य का कल्याण करने वाला होता है। साधक को पूर्ण आस्था के साथ उसका अवलम्बन करना चाहिये। उसमें संशय कभी नहीं होने देना चाहिये। यदि किञ्चित भी उसमें सन्देह होगा तो साधन से कोई लाभ न होगा, क्योंकि सन्देह सभी साधनों का विनाशक है।

४५—मनुष्य अपने भले-बुरे कर्मों के मिश्रण के अनुसार इस संसार में आया है। परन्तु वास्तविक लक्ष्य का ज्ञान न होने से भटक रहा है; छूटने का उपाय करता है, परन्तु और भी उलझ जाता है। अनेक मतमतान्तरों की उलझनों को देख कर वह निश्चय

भी नहीं कर पाता कि इनका यथार्थ रूप क्या है, और किस लिये इसे मानना चाहिये। बहुत-से तो बिना सोचे समझे ही व्यर्थ मतविशेष का अभिमान प्रदर्शन करने में अपना गौरव दिखाते हैं, और आचरण धर्म से शून्य रहते हुए भी धर्म का ढोंग करके आत्मवंचना करते हैं। कोई-कोई निन्दा-स्तुति का पाठ पढ़ाते हैं—अपनी प्रशंसा, अन्य मतों की बुराई ही जिसका वास्तविक लक्ष्य होता है; यहाँ तक कि शास्त्रों में भी ये बातें रख दी गई हैं। यदि विचार का समय उपस्थित होता है तब प्रमाण रूप में ये बातें कही जाती हैं। ऐसी अवस्था में यथार्थ मार्ग कौन है, इसका निर्णय असम्भव हो जाता है। मालूम होता है इसलिये सन्तों ने कहा है कि बिना भगवत्कृपा के उद्धार नहीं हो सकता, क्योंकि वही एक चीज़ इन झंझटों से परे है। वह कब प्राप्त होगी, इसका कोई निश्चय नहीं।

४६—हठ या आग्रह वास्तव में अत्यन्त हानिकारक है, वह हठी को अनेक कठिनाइयों में डाल देता है। जब मनुष्य किसी बेजा वस्तु में आग्रह करता है उसी समय विचार शक्ति उसे छोड़ देती है। विवेक के न होने से पतन होता है—"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः"। विवेक-भ्रष्टों का सैकड़ों प्रकार से पतन होता है। परन्तु सत्य, श्रद्धा, सदाचार में हठ होने से मनुष्य की उन्नति होती है, क्योंकि यही इस अवस्था में विचार-शक्ति का मार्जन करने वाला हो जाता है।

४७—शौच का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है। शौच दो प्रकार का है—एक मुख्य तथा दूसरा गौण। शुद्ध विचार, सदाचार का पालन, हिंसा, द्वेष, भय आदि के त्याग द्वारा मुख्य; मृतिका जल आदि के द्वारा गौण या बाहरी शुद्धि होती है। जिस समय

अशुद्ध विचार मन में उत्पन्न होता है, उस समय उसकी वृद्धि अति शीघ्र होती है। जैसे पानी में एक पत्थर के ढेले को फेंकने पर लहरें उत्पन्न होकर सारे जलाशय को क्षुब्ध कर देती हैं, इसी तरह वह विचार अनेक रूप धारण कर लेता है। उस समय धीरता, सहन-शक्ति लुप्त हो जाती है। ठीक जलाशय की तरह स्थिरता नष्ट होकर अन्तःकरण क्षुब्ध हो जाता है; उन आवेशों के वशीभूत होकर ही मनुष्य बुरे-बुरे काम करता है। अनेक रोग-व्याधि के भी यही कारण होते हैं। क्रूरता, कठोरता, निर्लज्जता आदि पाशविक गुण मनुष्य के अन्दर आते हैं, इसके बाद निन्दा, ईर्ष्या, क्रोध, काम उत्पन्न होकर महा नाश की सामग्री बनती जाती है, और वह पुरुष अन्त में नरकगामी होता है। इस लिये यही शौच मुख्यतः साधक को करना चाहिये। बाहरी शौच तो आडम्बरी लोग भी संसार के ठगने के लिये किया करते हैं। शौच के माने किसी को घृणा दृष्टि से देखना नहीं है, प्रत्युत अशुद्ध, गिरे हुए पुरुषों को धैर्य, सान्त्वना आदि शुभ गुणों द्वारा शुद्ध करना तथा पापाचरण से छुटाना है। इसलिये कहा है—"Hate the sin, but love the sinner"—अर्थात् पाप से घृणा करो, परन्तु पापी से प्रेम करो। यथार्थतः यही सच्ची पवित्रता है। इसका अर्थ यह कदापि लेना उपयुक्त नहीं कि बाहरी शौच अनुपयुक्त एवं व्यर्थ है। इसका भी आचरण मन की शुद्धि का हेतु है, तथापि विचार द्वारा आन्तरिक शुद्धि के बिना इससे कोई विशेष लाभ नहीं होता। विचार पूर्वक ही बाहरी शौच का भी आचरण लाभप्रद होता है। अतः इसका ध्यान रखना परमावश्यक है।

४८—जिस प्रकार सोना अग्नि में तपाने से शुद्ध होकर चमकने लगता है, इसी प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, परोपकार, दान,

सत्पुरुषों की सेवा, गुरु की सेवा, देवता का पूजन—इत्यादि व्यापारों से शरीर के दोष नष्ट होते हैं; इसे ही कायिक तप कहते हैं। सत्य, प्रिय, हित-भाषण, मन्त्र-जप, वेद का स्वाध्याय, आदि वाचिक तप कहलाते हैं। मन को निर्मल, असूया आदि दोषों से रहित, शुद्ध विचार वाला बनाना, मन्त्र का मानसिक जप, ध्यान का अभ्यास आदि मानसिक तप कहलाते हैं। इस प्रकार जो इन त्रिविध तपों का आचरण करता है वही यथार्थ तपस्वी है। प्राचीन काल में इसका आचरण करने के लिये एक स्वतन्त्र आश्रम था भी, जिसे वानप्रस्थ कहते हैं।

४९—जितने भी साधन, शास्त्र या महात्मागण बताते हैं, उन सब की सिद्धि ब्रह्मचर्य पर ही अवलम्बित है। जो पुरुष कामुक है, चाहे कैसा भी उत्तम साधन प्राप्त कर ले, उसको सिद्धि नहीं हो सकती। जितने भी सूक्ष्म दैवो तथा व्यावहारिक प्रभाव हैं वे सर्व-प्रथम पूर्णसंयत वीर्य में ही अपना असर पैदा करते हैं। वीर्य का लाभ ब्रह्मचर्य से ही होता है-"ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा यां वीर्य लाभः" इस योग सूत्र में कहा गया है। ब्रह्मचर्य से अशक्य कार्य भी किये जा सकते हैं। हनुमान, भीष्म, शंकराचार्य, दयानन्द आदि पुण्य पुरुषों का चरित्र इसका साक्षी है। वेदविद्या सरस्वती भी ब्रह्म-चारिणी के ही रूप में उपास्य मानी गई है। इसी लिये विद्यार्थियों को ब्रह्मचारी रहने की ताकीद धर्म शास्त्रों में की गई है। बिना ब्रह्मचर्य के विद्या की प्राप्ति असम्भव है; ब्रह्मचर्य का विनाश ही वेद विद्या का लोपक हुआ है। विषयी कामुक के समीप वेदविद्या नहीं रह सकती, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान दोनों का विरोध है। आलस्य, प्रमाद, कुचेष्टा आदि, दुर्गुण ब्रह्मचर्य के अभाव में ही उत्पन्न होते हैं; धैर्य का नाश ब्रह्मचर्य के ही विनाश

से होता है। इसलिये जितने भी गम्भीर विचारात्मक कार्य हैं, उन्हें कामुक नहीं कर सकता। यथार्थ सुधार ब्रह्मचर्य से ही आरम्भ होता है; इसको छोड़ कर पुस्तकों का केवल अभ्यास बेकारी के सिवा और कोई आर्थिक उन्नति नहीं कर सकता। शिक्षा के साथ ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध अग्नि और दाह की तरह नित्य है। परमार्थ की योग, भक्ति आदि साधनायें भी इसी पर अवलम्बित हैं। किसी भी योगी साधक का पतन तभी हुआ है, जब कामिनी की ओर उसने दृष्टि निक्षेप किया है। 'मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्'-वीर्य का धारण ही जीवन और विन्दु का पात ही मरण है, अथवा 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत'—ब्रह्मचर्य रूपी तप से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया, इन वचनों का यही अभिप्राय है। आज कल की क्रियाओं में असफलता जो देखते हैं उसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्य का अभाव ही है। सद्विद्याओं का लोप, निर्लज्जता का आधिक्य, ब्रह्मचर्य के अभाव से ही होता है। "कामातुराणां नभयं न लज्जा"—निर्भयता विना ब्रह्मचर्य के नहीं आ सकती। स्मरण रखना चाहिये, निर्भयता का अर्थ उच्छृ-ङ्खलता नहीं है, न इसे स्वतन्त्रता ही कहते हैं। पूर्ण स्वातन्त्र्य तो जितेन्द्रिय को ही प्राप्त होता है। अनेक प्रकार की आपत्तियों की सहन-शक्ति ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है। जिस किसी भी वीर पुरुष का पराजय हुआ है, वह ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो जाने पर ही। वास्तव में ब्रह्मचर्य सर्व शिरोमणि साधन है। इसलिये इसके पालन तथा इसके विरोधी भावों के त्याग में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये।

५०—किसी भी पुरुष को उपदेश तभी देना चाहिये जब परीक्षा द्वारा उसके अधिकार का निर्णय कर लिया जाय। जो उप-देष्टा ऐसा नहीं करता, उसके उपदेश ऊसर में बोये हुये बीज की

तरह निष्फल हो जाते हैं। उपमन्यु, आरुणि आदि योग्य शिष्यों की परीक्षा से ही योग्यता प्रकट हुई थी।

५१--जो उपदेशक पक्षपात से मलिन अन्तःकरण वाला होता है या जीविकार्थ जो उपदेश करता है, उसका वह उपदेश बालू के पुल के समान दुर्बल है। उससे सुनने वाले तथा सुनाने वाले दोनों का हित नहीं हो सकता। आज कल नौकर लोग भी उपदेश का कार्य करते हैं, बड़ी-बड़ी सभायें भी होती हैं, तथापि उनका कोई दृढ़ प्रभाव नहीं होता। इसका मूल कारण वही है जो ऊपर कहा जा चुका है। क्या कहा जाय, जीविका का ऐसा सवाल छिड़ा है कि अब तो कोई भी धार्मिक या व्यावहारिक क्षेत्र इससे बचा हुआ नहीं; ज़रा भी किसी विषय पर कुछ कहने की इच्छा होती है वहीं जीविकोच्छेद का पाप दृष्टिगोचर होता है।

५२—जिस शिक्षा से दासता की शृंखला मज़बूत होती हो, आदमी बुरी बातों का अभ्यासी बनता हो, अभिमान, अहंकार, घृणा, अहंमन्यता, स्वार्थ परायणता जिससे बढ़े, वास्तव में वह शिक्षा नहीं। जहाँ तक हो सके शीघ्र ही उसका त्याग करना चाहिये; तभी देश और जाति का कल्याण होगा।

❀ इति प्रथम खण्ड ❀
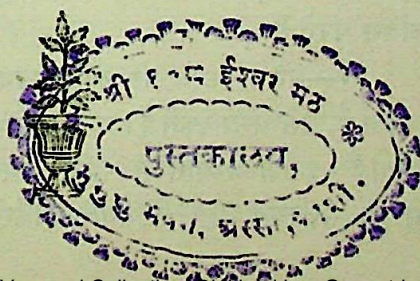
योगरत्न मणिग्रंथनम्
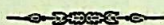
प्रकृति के विचित्र परिणामों द्वारा अनेक प्रकार की संकीर्णता मनुष्य के व्यवहारों में आ जाती है, जिससे यथार्थ का अनुभव न होकर अज्ञान के फेर में मनुष्य पड़ जाता है। इसीलिये योग के आचार्यों ने योगाभ्यास के द्वारा उसे शुद्ध करने की रीति बतायी है। मन्त्र, हठ, लय और राज के भेद से योग चार प्रकार का माना जाता है। इन चारों प्रकारों से हृदय की शुद्धि, परमात्मा का साक्षात्कार, तथा अणिमा आदि अनेक सिद्धियों की प्राप्ति योगी को होती है, ऐसा इनके आचार्यों ने कहा है। सिद्धियों की अपेक्षा चित्त की समता और विषयों में वैराग्य होना ही योग का मुख्य लक्ष्य है; सिद्धियाँ तो परमार्थ की बाधक हैं। योग्य योगी ही सिद्धियों का ठीक उपयोग कर सकता है। अतः इस विषय में योगी को अत्यन्त सावधान रहना चाहिये। इनमें मन्त्र-योग सब से सुलभ तथा स्वाभाविक है, इसलिये प्रथम उसे ही ग्रंथन करते हैं।

१—मनन करने से त्राण अथवा साधक की रक्षा जो करता है, उसे मन्त्र कहते हैं। मन्त्र सात्विक शुद्ध भावों का बोधक होता है। इसके अभ्यास से मलिन सत्वविशिष्ट जीव की उपाधि में शुद्ध सात्त्विक भाव की व्यक्ति होकर मलिनता से होने वाले

दोषों का नाश होता है, तथा जीव-भाव निवृत्त होकर ब्रह्म का सान्निध्य प्राप्त होता है। इसीलिये मन्त्र का आश्रय पहले पहल साधक को लेना चाहिये।

२—अनेक विलक्षण शक्ति वाले मन्त्रों के जप का विधान हर-एक साधक सम्प्रदाय में माना जाता है। वैष्णव, शैव, शाक्त मतों में नाम तथा बीज मन्त्रों का जप अत्यन्त महत्व रखता है। जप से ही मन्त्र सिद्ध होता है तथा अर्थ का साक्षात्कार होता है, तथापि जप के नियमों का और उसकी भिन्न-भिन्न रीतियों का परिज्ञान न हो तो मन्त्र-जप सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक मन्त्र को स्वर, अर्थ, छन्द, विनियोग के ज्ञानपूर्वक जपने से ही सफलता होती है, अन्यथा विपरीत फल भी हो जाता है। जप तीन प्रकार का होता है जिसे वाचिक, उपांशु और मानस कहते हैं। जिस जप में शब्द स्पष्ट उच्चारण पूर्वक ध्वनि के साथ सुनाई दे, उसे वाचिक कहते हैं। जिस जप में शब्द तो सुनाई नहीं देता, केवल ओष्ठमात्र स्पन्दित वागिन्द्रिय की क्रिया से होते हैं, उसे उपांशु जप कहते हैं। अर्थ-ज्ञानपूर्वक मन से ही जिस काल में साधक मन्त्र जप करता है, उसे मानसिक जप कहते हैं। वाचिक से उपांशु तथा उपांशु से मानस जप उत्तम माना जाता है। "तस्य-वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्"—परमात्मा का वाचक प्रणव है, उसका जप तथा उसके अर्थ की भावना करना चाहिये। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने योग-विघ्नों को दूर करने के लिये तथा परमात्मा के अनुग्रह के लिये मन्त्र श्रेष्ठ ॐकार का जप विधान किया है। "ओमित्येकाक्षरंब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्"—इस गीता वचन में भी यही तत्व लिया गया है। जप सब यज्ञों में श्रेष्ठ होने से भगवान ने "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि"—यज्ञों में जप

यज्ञ मैं हूँ—बताया है। नाम जप में दशनामापराध माने गये हैं। जिनका स्वरूप प्रायः प्रसिद्ध है, उनके पालन बिना भगवद् साक्षात्कार की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः इन रीतियों का ज्ञान प्राप्त करके साधकों को भजन करने से ही सिद्धि करना योग्य है।

३—जप के द्वारा मन्त्र चैतन्य होकर कुण्डलिनी शक्ति की जागृति होती है। तदनन्तर मन्त्र देवता का रूप धारण करता है। स्वप्न में देवता का दर्शन, आवेश और साक्षात्कार—इन तीन अवस्थाओं के सम्पन्न होने पर, अर्थात् इन तीनों अवस्थाओं में देवता का स्वरूप पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होने पर कुण्डलिनी की पूर्ण जागृति हो जाती है। इसी अवस्था में सिद्धिकामियों को सिद्धि तथा निष्कामी साधकों को मुक्ति का अधिकार प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न मन्त्रों के सिद्धि काल में अनेक दिव्य मूर्तियों के स्वरूप का प्रत्यक्ष साधक को होता है। कुण्डलिनी द्वारा ही इन प्रकाशमय रूपों की सृष्टि होती है। "स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः"—इस योग सूत्र से यही तत्व व्यासदेव ने इसके भाष्य में बताया है। जप काल में बड़े--बड़े विचित्र स्वप्न दर्शन होते हैं, उनका विचार मन्त्रयोग संहिता, मन्त्र महोदधि, आदि ग्रन्थों में किया गया है। इससे साधक को जो समाधि लाभ होता है, उसे भाव समाधि कहते हैं। मन्त्र योग का आश्रय सभी योगों में होता है, क्योंकि परमात्मा के साक्षात्कार में मन्त्र ही प्रधान कारण है।

४ – मन्त्र शब्दात्मक होने से, तथा शब्द समस्त व्यवहारों का कारण होने से आर्य शास्त्रों में इसके विषय में बहुत विचार किया गया है। शब्द का परम कारण 'ब्रह्म' के साथ अभेद सम्बन्ध है।

T

वाईविल में भी कहा गया है—In the beginning was the word, and word was with God, and the word was God—अर्थात सृष्टि के आरम्भ काल में केवल शब्द था, वह परमात्मा के साथ था, और वह स्वयं परमात्मा-स्वरूप था। पराशक्ति जब सृष्टि करने की इच्छा से 'अहं' रूप से ब्रह्म का प्रकाशात्मक भाव, तथा विषय का 'इदं' रूप से विमर्शात्मक रूप धारण करके विषयी और विषय रूप को व्यक्त करती है, उसका हेतु शब्द ही माना जाता है। महर्षि व्यास ने वेदान्त दर्शन के "शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम"—(१-३-२८) इस सूत्र में सृष्टि का कारण शब्द को ही वताया है। श्रुति, स्मृति प्रमाण से शब्द ही जगत का कारण है, यह भाष्यकार ने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। यह अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है। इस आदिम शब्द को परावाणी कहते हैं। यह ब्रह्म की भाषा कही जाती है; मूलाधार से इसकी व्यक्ति होती रहती है। इसे योगी ही जान सकते हैं। मन्त्रों, वीजों का विकास इसी से होता है। जब विमर्श और प्रकाश की स्थूलावस्था होने लगती है, तब उसे ही नाद कहा जाता है। नाद में समस्त वर्ण अर्थ-प्रकाशन रूप सामर्थ्य से रहते हैं। ज्यों-ज्यों सृष्टि स्थूल रूप धारण करती जाती है, त्यों-त्यों शब्द भी स्पष्ट रूप धारण करता जाता है। क्रम से तीन वाणी पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप धारण करके समस्त वैदिक, लौकिक, व्यवहार का कारण शब्द ही बन रहा है। परावाणी सत्य और नित्य मानी गई है। शेष वाणियों में माया या अज्ञान के परिणामों का सम्बन्ध होने से क्रमशः तारतम्य होता गया है। सत्य का प्रकाश न्यून होने से ही इनमें न्यूनता मान कर तीन अतिरिक्त भेद किये गये हैं। व्याकरण शास्त्र में वर्णों से भिन्न स्फोट को शब्द बताया गया है। 'नाद' नाम वर्ण का है–'नादाभिव्यङ्ग्यः शब्दः

T

स्फोट:"। नाद या वर्ण से स्फोट की व्यक्ति या प्रकाश होता है, और वह नित्य है। उपवर्षाचार्य के मत से वर्ण ही शब्द हैं। स्फोट वाद को महर्षि पतञ्जलि, भर्तृहरि, कैयट आदि प्रसिद्ध वैयाकरण मानते हैं। नागेशभट्ट ने स्फोट मत का ही परम लघुमञ्जूषा में प्रतिपादन किया है। शब्द तत्व को व्यक्त करने के लिये ६३ या ६४ वर्ण माने जाते हैं—"त्रिषष्ठिश्चतुषष्ठिर्वा वर्णाः शम्भुमतेमताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा। आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थानमनो युङ्क्ते विवक्षयामनः कायाग्नि माहन्ति सप्रेरयति मारुतम्। मारुतस्तूरसिचरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्"—(पाणीनीय शि० ३, ६, ७। प्राकृत तथा संस्कृत में ६३ या ६४ वर्णों को स्वयं स्वयम्भू भगवान ने कहा है। आत्मा बुद्धि के द्वारा अर्थों को लेकर मन के साथ बोलने की इच्छा से युक्त होती है, मन शरीर की अग्नि में आघात करता है, वह आघात वायु की प्रेरणा करता है, उससे वक्षःस्थल में गम्भीर स्वर की उत्पत्ति होकर (पश्यन्ती, मध्यमा से आगे) वैखरी नामक अत्यन्त स्थूल वाणी प्रकट होती है। 'शब्दःखेपौरुषंनृषु' 'शब्द ब्रह्मातिवर्तते' 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि गीता के वचनों में भी शब्द तत्व की विवेचना की गयी है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेदों से षड्ज, ऋषभ गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर भी शब्द के उच्चारण में माने जाते हैं। योग शास्त्र में नाद, बिन्दु, कला के तीन नाम शब्द को ही अवस्था भेद से दिये गये हैं। जैसे-जैसे अर्थों में विचित्रता होती जाती है, वैसे-वैसे शब्द भी रूप धारण करता जाता है। शुद्ध सात्त्विक दैवी-भाव का व्यञ्जक शब्द ही मन्त्र कहलाता है। दैवी-भाव के व्यञ्जक चार सम्प्रदाय

मन्त्रों से ही बने हैं, जिन्हें वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक, और शावर कहते हैं। उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व को श्रेष्ठत्व है, अर्थात् शावर से तान्त्रिक, तान्त्रिक से पौराणिक, पौराणिक से वैदिक मन्त्र श्रेष्ठ माने जाते हैं। तान्त्रिक कुल ५१ वर्णों की संख्या माने हैं; शेष १२, १३ वर्ण वेद में ही उच्चारण भेद से माने जाते हैं। वास्तव में ५१ मातृकाओं में ही वाङ्मय का समावेश यथार्थ रूप में होजाता है। तन्त्रों में विशिष्ट भावों को प्रकट करने के लिये बीज मन्त्रों को भी माना गया है। भगवान की आठ मुख्य प्रकृतियों के सदृश वीज मन्त्र भी 'ओंकार' स्वरूप शब्द ब्रह्म की आठ प्रकृति रूप से प्रधान माने गये हैं, जिन्हें मन्त्रयोगसंहिता में इस प्रकार कहा गया है–'गुरुबीजं शक्तिबीजं रमाबीजं ततोभवेत्। कामबीजं योगबीजं तेजोबीजमथापरम्। शक्तिबीजं च रक्षाच प्रोक्ता चैषां प्रधानता'। (ऐं ह्रीं, श्रीं, क्लीं, क्रीं, ट्रीं, स्त्रीं, ह्लीं) ये आठों बीज ॐकार रूप शब्द ब्रह्म की प्रधान शक्ति माने जाते हैं। प्लुतस्वरविशिष्ट ॐकार ही को नाद, लिंग पुराण में माना गया है। मन्त्रशास्त्र में मन्त्रों को तीन प्रकार का माना गया है। बीजमन्त्र, मन्त्र और मालामन्त्र जिसमें से मन्त्र और मालामन्त्र का अर्थ तो प्रकट होता है; बीजमन्त्र जपसे, अपने अर्थ बताते हैं। व्युत्पत्ति की अपेक्षा से उनका अर्थ नहीं ज्ञात होता–जैसे क्रीं, ह्रीं, हुँ, फट् आदि मन्त्र शास्त्र की प्रणाली द्वारा इन मन्त्रों से भिन्न-भिन्न सिद्धियों की प्राप्ति साधक को होती है। मन्त्र सिद्धि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, स्वरों के उच्चारण प्रकार के ज्ञान से तथा पूरक मन्त्र की सहायता से ही होती है। इसी से कुण्डलिनी का उत्थान होता है, और सुप्त नाना दैवीशक्तियाँ जागृत होती हैं, तभी जीव अविद्या से मुक्त होकर ब्रह्मानन्द का भोक्ता बनता है।

५—शब्द और अर्थ का वैयाकरणों के मत में भेदाभेद माना जाता है, परन्तु मीमांसा शास्त्र में तथा तन्त्र में अभेद माना जाता है-अर्थात् देवता और मन्त्र एक ही हैं। देवता का ही पूर्व रूप शब्द या मन्त्र है। इसीलिये तान्त्रिक साधकों को तन्त्रों में इस विषय में कहा है-'यथाघटश्चकलसः कुम्भश्चैकार्थवाचकः। तथा देवश्चमन्त्रश्च गुरुश्चैकार्थ उच्यते। यथा-देवस्तथा मन्त्रो-यथा मन्त्रस्तथागुरुः। देवमन्त्रगुरूणां च पूजया सदृशंफलम्'। कुलार्णव तन्त्र १३ उ० ६४, ६५)। जैसे घट, कलस और कुम्भ एक ही अर्थ को बताते हैं, इसी प्रकार देवता, मन्त्र, और गुरु का अभेद है। जैसे देवता हैं वैसे हो मन्त्र, तथा गुरु भी वैसे ही हैं। इनके पूजन से तुल्य फल होता है। इससे देवता के साथ अभेद और नित्यता ज्ञात होती है। वेद भी शब्द को नित्य बताता है-'यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिपु प्रविष्टाम् (ऋ० सं० १०।७१।३१) अर्थात् युगान्त में अन्तर्हित वेदों को यज्ञ के द्वारा सृष्टि के आदि में फिर से ऋषियों ने प्राप्त किया। 'अतएव च नित्यत्वम्' (वे. १-३-२९) वेदान्त दर्शन के इस सूत्र से भी शब्द रूप वेद की नित्यता बतायी गई है, जो ब्रह्म के साथ अभिन्न होने से ही घटित हो सकती है।

६—सात्विक भावों के अतिरिक्त राजस, तामस भावों को भी बताने वाले कुछ वेद, पुराण और तन्त्रों के मन्त्र हैं, तथापि वे भाग अधिकारी भेद से कहे गये हैं। अन्तिम लक्ष्य उनका उन अर्थों के प्रतिपादन में नहीं है। श्येनयागवर्णन, राजावेन की कथा, त्रिशीर्षत्वष्टा की कथा, मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषणादि तान्त्रिक प्रयोगों का उपयोग किसी समय विशेष पर, या लोक हित की अपेक्षा से प्रतिपादन किया गया है; आपेक्षिक रूप से

ये ग्राह्य हैं—वास्तव में नहीं, और इन कर्मों के आचरण के बाद प्रायश्चित्त का विधान होने से निषिद्ध कोटि में ही इन्हें जानना चाहिये। सात्विक कर्मों में तो 'प्रत्यवायो न विद्यते' कहा गया है।

७—मन्त्र में छन्द, ऋषि, देवता, बीज, कीलक और शक्ति ये मुख्य रूप से छः बातें मानी जातीं हैं, जिसमें से वैदिक मन्त्रों में छन्द, ऋषि और देवता इन तीन बातों का ही उपयोग होता है। अवशिष्ट के सहित षडङ्गों का उपयोग तान्त्रिक मन्त्रों में होता है। शावर मन्त्रों के विषय में-'अनमिल आखर अर्थ न जापू' और 'शावर-मन्त्र-जाल जिन सिरजा', आदि पद्यों से स्मरण किया जाता है। पौराणिक मन्त्र भाव प्रधान होते हैं; 'ॐनमो भगवते वासुदेवाय' आदि, इन मन्त्रों में क्रिया की गौणता होती है। इष्ट रूप की भावना मन से सतत जारी रहने से ही सिद्धि होती है, क्रिया की मुख्यता तान्त्रिक मन्त्रों में ही अपेक्षित है, वैदिक मन्त्रों में दोनों हैं।

मन्त्र के उच्चारण की रीति छन्द से,मन्त्र तत्व के आविष्कर्ता का परिचय ऋषि से, समस्त इष्ट फल के प्रदान करने वाले देवता का परिज्ञान मन्त्र एवं ध्यान की रीति से करना होता है। मन्त्र का मूल तत्व संक्षिप्त रूप में बीज में होता है; विरोधी शक्ति जो तत्व का विनाश तथा साधक को साधना से हटाती है, उसके निरोध के लिये कीलक का उपयोग होता है।

मन्त्र में चैतन्य शक्ति का संचार शक्ति से होता है। मन्त्र योगी को इन रहस्यों को ध्यान में रखकर मन्त्र-साधना में प्रवृत्त होना चाहिये। इसके अतिरिक्त विशिष्ट भावों की व्यक्ति के

लिये अन्तर्मातृकान्यास, बहिर्मातृकान्यास, षोढ़ान्यास, प्रपञ्च-न्यास, भुवनन्यास, देवन्यास, शक्तिन्यास, श्रीकण्ठन्यास, आदि कहे गये हैं। अन्तर्याग, बहिर्याग द्वारा देवता का पूजन, तर्पण, होम, पुरश्चरण, संस्कार आदि के द्वारा मन्त्र शीघ्र ही सिद्ध होता है। इन उपायों से मन्त्र चैतन्य होकर देवता का साक्षात्कार होता है। बिना मन्त्र चैतन्य हुए देवता का स्वरूप ज्ञात नहीं होता; तभी देवता का व्यक्त रूप साधक के सम्मुख होता है। परब्रह्म परमात्मा ही देवता के रूप में अपनी ज्ञान-शक्ति द्वारा व्यक्त होता है। अनेक देवताओं के भिन्न-भिन्न स्वरूप जो आर्य-धर्म में माने गये हैं; उनका ये रूप वैचित्र्य मन्त्रों द्वारा ही ज्ञात होता हैं, और मन्त्रों द्वारा ही उनकी अनेकता व्यक्त हुई है, तथापि उनमें प्रकट चैतनतत्व एक ही है। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"-इस मन्त्र में यही तत्व कहा है।

८—शब्द-तत्व या जिसे शब्द-शक्ति कहते हैं, उसका ज्ञान या ज्ञान शक्ति के साथ साहचर्य है। बिना शब्द--शक्ति के ज्ञान नहीं हो सकता, अर्थात ज्ञान का व्यञ्जक शब्द है। जैसे शब्द का अर्थ से सम्बन्ध है, वैसे ही ज्ञान से भी उसका सम्बन्ध है। आनन्द शक्ति एवं क्रियाशक्ति भी ज्ञान शक्ति द्वारा ही अपना स्वरूप प्रकट करती हैं। जितने भी भौतिक, दैविक और आध्या-त्मिक रहस्य हैं, वे सब ज्ञानात्मक ही हैं; उनका प्रकाशन शब्दात्मक ग्रन्थों, मन्त्रों, आख्यानों, इतिहासों द्वारा ऋषियों, आचार्यों साधु-सन्त-महात्माओं ने किया है। इसी तत्व को उपासक सरस्वती शक्ति के रूप में ध्यान करता है। सरस्वती के ध्यान में वीणा, पुस्तक द्वारा शब्द शक्ति, नीर-क्षीर विवेक करने वाले हंस वाहन द्वारा विवेकशक्ति या ज्ञानशक्ति का साहचर्य ज्ञात होता

है, जिससे ध्यान की इस रहस्यमयी कल्पना का भाव अच्छी तरह व्यक्त होता है।

९—मन्त्र का ठीक अभ्यास होने पर शुद्ध सात्त्विक स्वरूप वाला तत्व साधक के सम्मुख प्रकट होता है, उसे ही राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, नारायण आदि नाम दिये जाते हैं। इन स्वरूपों का तात्त्विक स्वरूप परिचय एवं इन स्वरूपों के साक्षात् कर्ता साधक के गुण, स्वभाव का ज्ञान कि अमुक साधक का अधिकार किस भाव के साक्षात्कार के योग्य है, किस भाव के देव के साथ इसका ऐक्य है, कौन भाव इस साधक पर अनुगृहीत हो सकता है-आदि तात्त्विक बातों का निर्णय सिवाय तत्त्वज्ञ गुरु के कोई नहीं जान सकता। इसीलिये साधना मार्ग में जो स्थान परब्रह्म का है, वही गुरु का है। श्रुति में कहा गया है-"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ" अर्थात जिस साधक की देव तथा गुरु में समान बुद्धि से भक्ति होती है, उसी को उपनिषद् के अर्थ प्रकाशित होते हैं। जो लोग अपने मन से ही साधना करते हैं, उन्हें वास्तव में केवल श्रम के सिवाय और कुछ नहीं प्राप्त होता। इसी लिये दीक्षातत्व का उपदेश साधक को प्राप्त करके साधना का आरम्भ करना चाहिये। यद्यपि शास्त्रों में ये बातें पर्याप्त रूप में बताई गईं हैं, तथापि अभ्यास काल की बातों का निर्णय तो गुरु ही कर सकते हैं। इस लिये परम श्रद्धा एवं विश्वास से गुरु की सेवा करना साधक का मुख्य कर्तव्य है। यदि इसमें किञ्चित् भी त्रुटि होगी तो साधना निष्फल हो जायगी।

अथ हठयोगाभ्यास निरूपणम्

१०—योगाभ्यास के साधनों का रहस्य मन को विक्षिप्त करने वाली वृत्तियों का निरोध करके ब्रह्मानन्द का अविच्छिन्न

प्रवाह चलाते रहने में ही पर्यवसित है। हठयोग और मन्त्रयोग में कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान ही पूर्वोक्त कार्य का साधक है। कुण्डलिनी का उत्थान एक अत्यन्त कठिन कार्य है। इस कार्य में प्राणायाम का साधन मुख्य है। कुछ लोग कुण्डलिनी शक्ति को वायु या एक प्रकार की नाड़ी मानते हैं, तथापि इस विषय में स्वानुभव ऐसा है—जैसे रेडियम लगी हुई घड़ियों में अन्धकार एवं प्रकाश दोनों एक साथ रहते हैं, इसी तरह बिजली के बारीक तारों के सदृश मूलाधार चक्र में ऊपर की ओर चक्करदार तीन चार फेरे में प्रकाश जो कुछ पीले रङ्ग का होता है अँधेरे के साथ मिला हुआ दिखाई देता है। उस अन्धकार को हठयोग की क्रियाओं द्वारा हटाया जाता है, अन्धकार के हटने के वाद अपने आप वह गोलाकार प्रकाश सीधा होकर ऊर्ध्व गमन करता है। जैसे चक्करदार तार को खींच कर सीधा करते हैं, वैसा ही इस विषय में भी समझना चाहिये। कुण्डलिनी की ऊर्ध्व गति ठीक साँप की सी होती है। भिन्न-भिन्न चक्रों में से इस का जो गमन है, वही अनेक प्रकार की सिद्धियों का जनक है। सहस्रार में पहुँच कर चिन्तन द्वारा पुनः उसको मूलाधार में स्थापित किया जाता है, इसमें कोई विशेष श्रम नहीं होता है। सब चक्रों के अनुभव के बाद यह अपने आप अपने स्थान में पूर्व रूप में चली जाती है। एकवार अभ्यास में आने पर फिर कठिनाई का अनुभव नहीं होता। मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर तक तो इसकी गति का स्पष्ट दर्शन नहीं होता; मणिपूर से ऊपर प्रत्यक्ष रूप में साधक इस को देखता है। जिस समय कुण्डलिनी की जागृति होती है, उस समय मेरुदण्ड के मार्ग में गम्भीर प्रकाश छा जाता है, जो अपूर्व आनन्द का जनक होता है। बस इतना ही उत्थान क्रिया

का रहस्य है। भस्त्राकुम्भक, भुजङ्गासन, विपरीतकरणमुद्रा, महामुद्रा, मयूर आसन, पश्चिमोत्तान आसन, मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध, जालन्धर-बन्ध और सूर्य वेध प्राणायाम इस कार्य के सहायक और अत्यन्त उपयोगी साधन हैं। इन हठयोग के साधनों के अभ्यास काल में कुण्डलिनीस्तोत्र तथा कुण्डलिनीकवच, महाविद्या स्तोत्र एवं कवच का पाठ तथा ग्रन्थ साहब के सुखमनी साहब का पाठ एवं विचार भी इस कार्य का सहायक है। मन्त्र शास्त्र में मन्त्र की सिद्धि, देवता का साक्षात्कार, मन्त्र-चैतन्य भी कुण्डलिनी से ही माने गये हैं। तन्त्र में इसे इस जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण बताया गया है। इसके उत्थान होते ही शरीर में रहे हुए विभिन्न चक्रों का ज्ञान योगी को अनायास ही हो जाता है। १-मूलाधार, २-स्वाधिष्ठान, ३-मणिपूर, ४-अनाहत, ५-विशुद्ध और ६-आज्ञा यही षड्चक्र कहलाते हैं, इनसे ऊपर सहस्रार हैं। कुण्डलिनी को जागृति भक्तियोग, भगवन्नामजप, ज्ञानयोग आदि द्वारा भी होती है, तथापि यह हठयोग की क्रियायें ही पूर्ण सफलता पर पहुँचाती हैं। और साधन इस विषय में स्थायी कार्य नहीं करते; हठयोग के सामने वे दुर्बल हैं। इसकी उग्रता को देखकर दुर्बल चित्त के मनुष्य भय भीत होकर इसकी निन्दा भी करने लगते हैं, तथापि योग्य गुरु के समीप रह कर यह साधन सुखपूर्वक किया जा सकता है। इसके साधन से शरीरिक, दैविक और आध्यात्मिक तीनों लाभ होते हैं, वास्तव में यह साधन-राज है। नेती, धौत-कर्म आदि षट् कर्म से शरीर शुद्ध करके सिद्धासन या वज्रासन से बैठकर पहले पहल २० से आरम्भ करके ८० तक प्राणायाम तीन मास तक अभ्यास करना चाहिये, क्रम से बढ़ाते हुए ३२० तक करने से योग सिद्ध होता है। इस

प्रकार अभ्यास से ऐश्वर्य कामी को ऐश्वर्य एवं मुमुक्षुओं को परम पद की प्राप्ति का द्वार खुल जाता है।

११—पञ्चभूतों के विकार से यह शरीर बनता है। रस, रक्त, मांस, मेदस, अस्थि मज्जा और वीर्य ये सप्तधातु कहे जाते हैं। वात, पित्त और कफ के समभाव से इसका स्वास्थ्य रहता है प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान-इसमें पांच प्राण रहते हैं; नाग, देवदत्त, कृकल, कूर्म और धनञ्जय-ये पांच उप-प्राण कहे जाते हैं। चक्षु, नाक, कान, त्वचा और रसना ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं। इन सब का संचालन मन के साथ मिलकर आत्मा से होता है। अपने अंगुल प्रमाण से ९६ अंगुल प्रमाण का यह शरीर है। इडा, पिंगला, सुषुम्ना-इन तीन नाड़ियों वाला त्रिरावृत ब्रह्मसूत्र सब प्राणी अपने शरीर में धारण किये हुए हैं। योगशास्त्र में ७२००० नाड़ियों का अवस्थान शरीर में माना जाता है। उनमें १४ मुख्य, उसमें से भी ३ मुख्य, अन्त में सुषुम्ना नाड़ी ही प्रधान है, उसी में योग प्रतिष्ठित है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना से त्रिरावृत्त ही यह यज्ञोपवीत है, जिसे त्रिवर्ण धारण करते हैं। इसका लक्ष्य सहस्रार का द्योतक शिखा है। जब तक अन्तर्भाव का लक्ष्य नहीं होता, तब तक यह यज्ञोपवीत तथा शिखा धारण की जाती है। जिन्हें अन्तर्ज्ञान हो जाता है, वे इसे छोड़ देते हैं। इसीलिए सन्यास प्रकरण में कहा है—'सोपवीतां शिखां त्यजेत्' सुषुम्ना के अन्तर्गत चित्रा, वज्रा, और ब्रह्मा नाड़ी मानी जाती है। ब्रह्मनाड़ी में ही षड्चक्रों का सम्बन्ध है, यतियों का यही त्रिदण्ड है। इन तीनों में ब्रह्म नाड़ी में ब्रह्म तत्त्व का प्रकाश होने से इसकी मुख्यता है। इसी लिये परमहंस यति एक ही दण्ड धारण करते

हैं। इड़ा का देवता चन्द्रमा, पिंगला का सूर्य, और सुषुम्ना का अग्नि है। अग्नि का रक्त वर्ण होने से गेरू के रंग के रंगे हुए वस्त्र यति धारण करते हैं, मेरू के अन्तर्गत षोड़शाधार ही दण्ड के षोड़श पर्व तथा आधारचक्र ही कमण्डलु है। वास्तव में ऐसे योग के चिन्हों को धारण करने वाला ही यति है। ऐसा ब्रह्मदण्ड जिसे प्राप्त हो जाता है, फिर वह बाँस का दण्ड रक्खे या न रक्खे, क्योंकि वह यति कृतकृत्य हो जाता है।

१२—मूलाधार से लेकर सहस्रार पर्यन्त मेरूदण्ड इस शरीर के समस्त भागों का आधार भूत दण्डाकार स्थित है। (१) सब से नीचे आधारपद्म का चिन्तन योगी करता है, जो गुदा इन्द्रिय से कुछ ऊपर है। उस कमल में चार दल हैं, जिन में प्रत्येक पत्तो पर व, श, ष, स, ये एक, एक वर्ण हैं; ब्रह्मा और डाकिनी इसके देवता हैं। पृथिवी तत्त्व का चतुष्कोणाकार 'लं' बीज युक्त मण्डल का यहीं चिन्तन होता है। स्वयंभू लिंग से वेष्टित यहीं पर कुण्डलिनी शक्ति का वास है। इसके चिन्तन से योगी तत्त्वज्ञ तथा सभी सिद्धियों का पात्र बनता है। (२) लिंग इन्द्रिय के मूल में आधारपद्म से ऊपर स्वधिष्ठान पद्म है; इसका रक्त वर्ण है। ब, भ, म, य, र, ल इन छः वर्णों से भूषित छः दल इसमें हैं। जलतत्त्व का 'वं' बीज तथा विष्णु और राकिनी इसके देवता हैं। (३) मणिपूर तीसरा पद्म है; नाभि इसका स्थान है। इसमें दस पत्ते हैं; नील इसका वर्ण है। ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ इन वर्णों से विभूषित हैं; रुद्र और लाकिनी इसके देवता हैं। अग्नि का त्रिकोणाकार 'रं' बीज युक्त मण्डल का चिन्तन होता है। (४) अनाहत नामक वक्षःस्थल में गुलाबी रंग का पद्म है; बारह दल क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ,

ट, ठ, इन वर्णों से भूषित है। षट्कोण हरित रंग का 'यं' वीज से युक्त; वायुतत्त्व का चिन्तन यहीं पर होता है। ईशान और काकिनी इसके देवता हैं। यहीं बाणलिंग की स्थिति है। इसके किंचित ऊपर अष्टदल कमल में अपने इष्ट देवता का ध्यान किया जाता है। (५) कण्ठ में विशुद्ध चक्र धूम वर्ण वाला सोलह स्वरों अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः से युक्त तथा 'हं' वीज युक्त आकाश तत्त्व का चिन्तन होता है। सदाशिव और हाकिनी इसके देवता हैं। कलङ्क-रहित पूर्ण चन्द्र का चिन्तन, तथा जीव का वास यहीं माना जाता है। (६) भ्रू-मध्य में दो दल का पद्म है, जो 'ह' और 'क्ष' इन दो वर्णों से भूषित है। शाकिनी अर्धनारी नटेश्वर इसके देवता हैं, और इतर नामक लिंग यहीं है। मन का वास यहाँ माना जाता है; ॐ कार बीज का चिन्तन यहीं होता है। (७) सहस्रार पद्म की ब्रह्माण्ड में स्थिति है। एक हज़ार इसमें पत्ते हैं। सम्पूर्ण वर्ण २० आवृत्ति से इसमें रहते हैं। ह, ल, क्ष, ये तीनों वर्ण मध्य में हैं। इसके मध्य में द्वादश कमल में त्रिकोणाकार गुरु सिंहासन है। परमशिव और पराशक्ति का चिन्तन गुरु रूप में किया जाता है। संक्षेप में षट्चक्र निरूपण का यह तत्व है। कुण्डलिनी शक्ति की जागृति से इनका आरोप एवं लय चिन्तन करने में योगी समर्थ होता है।

१३—इन तीन नाड़ियों का वर्णन वेद में भी यज्ञ के रूप में आया है—'सुषुम्णः सूर्य रश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राणि अप् सरसो भेकुरयो नाम। सन इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा,—(यजुः १८-४०) सुषुम्ना अग्नि जिस यज्ञ में दीप्त होती है, उसी से सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि प्रकाशित

होकर सब संसार की रक्षा करते हैं। अध्यात्मिक रूप में इसे ही अग्नि तत्त्व वाली सुषुम्ना कहते हैं।

राजयोग

१४—अन्तः करण की वृत्तियों को सात्विक, राजस, एवं तामस इन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है, जिनमें से राजस, तामस इन द्विविध वृत्तियों का सर्वथा निरोध करके सात्विक वृत्तियों का प्रवाह जो सुखात्मक तथा ज्ञानात्मक होता है, अनवच्छिन्न रूप से चलाना ही वास्तव में सम्प्रज्ञात योग है। इन द्विविध वृत्तियों का निरोध विचार से ही करना होता है। इसलिये आसन, प्राणायाम आदि की इस योग में अपेक्षा नहीं होती। इससे महान पराक्रम योगी को प्राप्त होता है, क्योंकि "यथा क्रतुः पुरुषो भवति"-अर्थात जैसी भावना पुरुष की होती है वैसा ही वह बन जाता है। इस अभ्यास से किसी भी प्रकार का विकार जब मन में न रहने पावे, तब जानना चाहिए कि योग सिद्ध हुआ। मन की पवित्रता के विषय में योगियों ने बताया है—"पूर्ण युवक तथा सुन्दर नवयौवना युवती को हाव-भाव युक्त एकान्त में रहस्य की बातें करते हुए भी देख कर मन में किसी भी प्रकार का क्षोभ या दुर्भावना उत्पन्न न हो, तब समझना चाहिये कि हमारा योग सिद्ध हुआ। वास्तव में यही योग सब से श्रेष्ठ है। इसे ही राजयोग कहते हैं। सभी प्रकार की वृत्तियों के निरोध को असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनों साधनों से योग सिद्ध होता है, जिन में असम्प्रज्ञात समाधि योग का अन्तरङ्ग साधन है। सम्प्रज्ञात बहिरङ्ग साधन है, इसी से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिसे योग दर्शन

के विभूति पाद में विस्तार के साथ कहा गया है। समस्त वृत्तियों के निरोध के पश्चात् समाधि सुख को अनुभव करने के लिए एक वृत्ति होती है, उसी से समाधि में ब्रह्मानन्द का योगी अनुभव करता है।

१५—वृत्ति क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की हैं। क्लेश युक्त को क्लिष्ट, इस से भिन्न को अक्लिष्ट कहते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश कहे जाते हैं (१) विपरीत ज्ञान को अविद्या कहते हैं। यह समस्त क्लेशों को उत्पन्न करती है, इसलिये क्लेशों का क्षेत्र इसे कहते हैं। (२) प्रकृति पुरुष के विभाग को न जान कर दोनों को अभिन्न समझने से अस्मिता नामक क्लेश की उत्पत्ति होती है। (३) अनुकूल विषयों में प्रीति राग कहलाता है। (४) प्रतिकूल विषयों में द्वेष होता है। (५) मृत्यु का भय अभिनिवेश कहलाता है। निरोध और एकाग्रता को विषय करने वाली वृत्तियों को अक्लिष्ट कहते हैं। शुद्ध ज्ञानात्मक अन्तः करण का परिणाम सात्त्विक वृत्तियों हीं निरोध और एकाग्रता को दृढ़ करती हैं। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त वृत्तियाँ तामस एवं राजस के क्रम से उत्पन्न होती हैं। इन वृत्तियों में योग नहीं होता। विक्षिप्त वृत्तियों को निरोधावस्था में लाने के लिये योग के अष्टाङ्ग साधनों का उपदेश दिया गया है। विषय के प्रकाशक अन्तः कारण के ज्ञानात्मक परिणाम को वृत्ति कहते हैं। प्रकृति स्वाभाविक रीति से अपना कार्य कर रही है, उसके इस स्वभाव का निरोध नहीं किया जा सकता—"प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति", तथापि जीव अज्ञान मूलक राग द्वेष पूर्ण व्यवहार करता है, वही क्लेश के हेतु हैं। अतः "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः"—इस सूत्र में उन्हीं का निरोध कहा गया है। इसीलिये अभ्यास का उपदेश दिया गया है।

१६—अपने इष्ट रूप परमात्मा का चिन्तन अभ्यास कहलाता है, या ध्येय के विरोधी ज्ञान को निरोध करके अपने अभीष्ट विषय में वृत्ति को निरन्तर प्रवाहित करने को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास दो प्रकार का होता है—एक लौकिक, दूसरा पारमार्थिक। लौकिक अवधान से संसार के कार्य सिद्धि को प्राप्त होते हैं। योग में सिद्धियों का वर्णन भी ऐसा ही है। इस से ऐश्वर्य मात्र की प्राप्ति होती है, और ये क्षणिक हैं इन में मुमुक्षु को विराग करना चाहिये। वास्तविक फल तो परमात्मा में ही वृत्ति के प्रवर्तन से होता है; यह नित्य एवं स्थायी फल को प्रदान करने वाला है, इसलिये ही अभ्यास कर्तव्य है। आहार के संयम से स्थूल अन्न मय शरीर का संयम, प्राणायाम से प्राण के संयम का अभ्यास, ध्यान के अभ्यास से मन का निरोध, विवेक पूर्वक विचार से बुद्धि की एकाग्रता का अभ्यास निष्पन्न होकर शरीर, प्राण, मन, बुद्धि को शुद्ध करता है, तदनन्तर तत्त्व का परिचय योगी को होता है। "तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान् महिमान-मात्मनः" संकल्प आदि दोषों से रहित होकर शरीर के धातु के शुद्ध होने पर शोक रहित साधक परमात्मा को देखता है। ये बातें अभ्यास ही से लभ्य हैं।

१७—लौकिक तथा पारलौकिक भागों में विरसता का अनुभव करना ही वैराग्य कहलाता है। किसी वस्तु के साथ घृणा या द्वेष से अप्रीति का भाव होना वैराग्य नहीं है। विषय और इन्द्रिय के संयोग से राग की उत्पत्ति होती है। विषय के नश्वर होने का विचार चित्त में दृढ़ करना, और विषय में आसक्ति चित्त को न होने देना ही सच्चा वैराग्य है। केवल बाहरी चिन्हों को वैराग्य मानना भूल है। वैराग्य के विषय पर एक विद्वान का

यथार्थ नोट इस प्रकार है:—Vairagya distaste for the world and life-cessation of attraction to the object of the mind's attachment;—अर्थात् संसार और जीवन में विरसता अनुभव करना विषयों के साथ चित्त की आसक्ति का छूट जाना ही वैराग्य है।

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से योग के अनुकूल वृत्तियों का प्रवाह बनता जाता है तथा समस्त योग विघ्नों का अभाव होकर योगी पूर्ण सिद्धि लाभ करता है।

१८—लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद-ये चारों समाधि के विरोधी हैं। इसी लिये इन्हें सावधानी से दूर करने का प्रयत्न योगी को करना चाहिये। (१) लय साधन में इष्ट स्वरूपाकार वृत्ति या आत्माकार वृत्ति का अभाव होना, अर्थात् निद्रावृत्ति का उदय होकर ब्रह्मानन्द से निवृत्ति लय कहलाता है। (२) विक्षेप-ध्येयाकार में वृत्ति का न जमना, इधर उधर भटकते रहना विक्षेप कहलाता है। (३) कषाय-बाह्य तथा आन्तरिक विषयों के राग, द्वेष, जन्य संस्कार जब हृदयों में प्रकट होते हैं, तब उसे कषाय कहते हैं। (४) रसास्वाद-दुःखाभाव मात्र में सुख मानने लगना और वास्तविक ब्रह्मानन्द को छोड़ देना, क्योंकि अभ्यास काल में राजस, तामस वृत्तियों के निरोध से भी सुख मिलने लगता है। अतः योगी को इनसे बचना चाहिये।

१९—अणिमा, महिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ, पाँच तत्वों के चिन्तन, देवता के साक्षात्कार मन्त्रजप तथा समाधि के साधना से प्राप्त होती हैं, तथापि अहंकार का बीज रहने से इनसे अनर्थ भी होकर योगी का पतन हो सकता है। इसलिये इनका उपयोग अधिकारी पुरुष ही कर सकते हैं। विषयी तथा पामर

मनुष्य योग की सिद्धियों के लिये लालायित होते रहते हैं, और समझते हैं कि प्राकृत भोग में हम इनका उपयोग करलें और इसी भावना से साधु महात्माओं के पास जाते हैं, परन्तु उनकी भावना निष्फल हो जाती है। उन अबोध अज्ञों को यह नहीं मालूम कि सिद्धि योग की वस्तु है, विना भोग से पराङ्मुख हुए नहीं प्राप्त होती। भोग की बातों से उनका क्या सम्बन्ध, वरन् इससे तो योग का विरोध है। जो योगी इन विषयी पुरुषों के कहने के अनुसार सिद्धियों का प्रयोग करने लगता है, उसे क्षति उठानी पड़ती है तथा क्रोध, प्रतिहिंसा का भाव उत्पन्न होता है, जिससे उसका पतन होता है। पामरों की तृप्ति तो होती ही नहीं, क्योंकि तृष्णा का समुद्र तो उनके चारों ओर लहराया करता है; सिद्धियों द्वारा लाभ होने पर उनकी तृष्णा और भी अधिक बढ़ती जाती है, और उनकी आदतें बिगड़ती जातीं हैं। योगी यह समझता है कि ये पामर मनुष्य हमारे भक्त तथा परमार्थ की ओर आ रहे हैं। इसी भूल में निग्रहानुग्रह का प्रयोग करने लगता है, जिससे राग-द्वेष उत्पन्न होकर योगी भी उनसा ही बनता जाता है। अतः योगी को इस विषय में सावधान रहना चाहिये।

❀ इति द्वितीयः खण्डः ❀

T

उपासना भक्ति रत्न मणि ग्रन्थनम्।

योग साधन से अन्त:करण की शुद्धि होने पर चिन्तन का अधिकार मनुष्य को प्राप्त होता है। योगाभ्यास के विना एकाग्रता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये योग साधन के पश्चात् उपासना तथा भक्ति मार्ग पर चलने का मनुष्य अधिकारी होता है। इस लिये योग के साधनों का निरूपण करने के अनन्तर उपासना का विषय लिखते हैं। उपासना से आनन्द स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार होकर साधक सम्पूर्ण दु:खों से मुक्त होकर आनन्दित होता है, तथा जीवन मुक्त, अवस्था की प्राप्ति होती है। उपासना सगुण एवं निर्गुण भेद से दो प्रकार की है। पहले निर्गुण उपासना लिखते हैं, क्योंकि ज्ञान का साक्षात हेतु वही है; सगुण उपासना परम्परा सम्बन्ध वाली होने से निर्गुण के पश्चात् उसका क्रम आता है।

१—मनुष्य जैसा चिन्तन करता है वैसा बन जाता है, यह श्रुति सिद्धान्त उपासना का मूल है। इसी भाव को आगे रखकर उपासना की सृष्टि हुई है। जिस प्रकार संसार में विद्वान की उपासना करने वाला विद्वान, धनिक की उपासना करने वाला धनवान, मूढ़ की उपासना करने वाला मूढ़, दुष्ट, खल आदि अवस्थाओं को प्राप्त होता है। इसी प्रकार नाम रूपात्मक संसार को दु:खमय जानकर इस से विरक्त पुरुष शान्ति लाभ करने के लिये सारे जगत् का अधिष्ठान् सच्चिदानन्द परमात्मा का ध्यान करके सारे दु:खों से मुक्त हो जाता है। परन्तु परमात्मा का स्वरूप निराकार, व्यापक, इन्द्रियों से परे है, उसे मनुष्य ठीक रीति से नहीं जान सकता। इसलिये उसे जानने के लिये भिन्न

भिन्न रीतियाँ या सम्प्रदाय बनाये गये हैं, जो वास्तव में सब यथार्थ हैं, उनमें किसी भी प्रकार की अनुपयुक्तता बताना अयोग्य है। अहं रूप से इस शरीर में ब्रह्म का ही चेतन रूप व्यक्त हो रहा है। इसलिये ब्रह्म को किसी भी प्रकार की अपने से भिन्न मूर्ति न बनाते हुये, उसे ही ब्रह्म भावना से चिन्तन करना होता है। इस से अद्वैत ज्ञान की उत्पत्ति होकर साधक के सब बन्धन टूट जाते हैं। ॐ कार की सहायता से 'सोऽहम्'—मैं ब्रह्म या शिव हूँ, इस भाव की चिन्तन की आवृत्ति की जाती है। स्मरण रहे, 'मैं' का अर्थ शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि नहीं हैं, इनसे परे जो चेतन तत्त्व है उसे ही 'मैं' शब्द से उपास्य माना जाता है। इस अभ्यास से जीव भाव निवृत्त होकर ब्रह्म भाव की सिद्धि होती है। जिस प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ, जीव की अवस्था से नाम है, इसी तरह विराट्, हिरण्यगर्भ, अन्तर्यामी-ये तीन भाव समष्टि ईश्वर में हैं। इसी तरह ॐ कार में भी अ, उ, म, ये तीनों वर्ण जीव और ब्रह्म के दोनों भावों के अभेद के बोधक हैं। अकार मात्रा से जीव के विश्व भाव को विराट् में, उकार से तैजस भाव को हिरण्यगर्भ में, मकार से प्राज्ञ भाव को ईश्वर में लय चिन्तन करना होता है। ॐ कार की चौथी अर्ध मात्रा अव्यवहार्य है, उस से लक्ष्य रूप सच्चिदानन्द निर्गुण सगुण दोनों रूपों का चिन्तन एवं उसी में विराट् भाव का, हिरण्यगर्भ में हिरण्यगर्भ भाव का, अन्तर्यामी में अन्तर्यामी भाव का, तुरीय ब्रह्म में क्रमशः लय करके सोऽहम् भाव की दृढता का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार के पक्के अभ्यास से यहीं जीवन काल में ही ब्रह्म-भाव अद्वैत का साक्षात्कार और तन्मयता प्राप्त हो जाती है, जिससे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते हैं और पुरुष

जीवन्मुक्त हो जाता है। संक्षिप्त रूप में इसे ही निर्गुण उपासना कहते हैं। द्वैत भावना से भी निराकार उपासना की जाती है। नानक, कबीर, दादू, दयानन्द आदि महात्मा द्वैत भावना वाली निराकार उपासना ही मानते हैं। जैसे साकार वादी स्वामी-सेवक भावना मानते हैं, वैसे ही ये लोग भी मानते हैं। ईसाई और इस्लाम धर्म में भी ऐसा ही माना जाता है। यह उत्तम मानसिक सात्त्विक भावना है। श्रद्धा विश्वास की अधिकता, तीव्र अभ्यास करने में उत्साह होने से बहुत शीघ्र ही सिद्धि होती है।

२—सगुण या साकार उपासना अत्यन्त सरल है। भगवत्तत्त्व के इस भाव के साक्षात्कार का कारण मुख्यत: उनकी कृपा ही बतायी जाती है, तथापि अखण्ड भजन से वह कृपा प्राप्त होती है। नाम-जप से साधक अपने अभीष्ट रूप को प्रत्यक्ष करता है। नाम और नामी का अभेद है, इस भाव को हृदय में रखकर अनन्य भाव से धारण करना चाहिये, अपना सर्वस्व श्रीभगवान को अर्पण कर देना चाहिये-यहाँ तक कि जीवन भी उन्हीं के लिये समझे। ऐसी भावना दृढ़ होने पर कैसा भी अधम क्यों न हो, उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है। 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति, कौन्तेय प्रति जानी हि न मे भक्त: प्रणश्यति'-जल्दी ही हमारा स्मरण करने वाला पापी भी धर्मात्मा हो जाता है; मैं प्रतिज्ञा पूर्वक कहता हूँ, मेरा भक्त कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता, और उसे शीघ्र ही शान्ति मिल जाती है!' 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्'—'मृत्यु ग्रस्त संसार से मैं उसका उद्धार करने वाला होता हूँ;' 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया':- अर्थात् 'वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं'; 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' इत्यादि गीता के प्रसङ्गों में इसी का स्मरण किया गया है। ये

भक्त श्री नारायण को अत्यन्त प्रिय हैं, इस भाव को व्यक्त करने के लिये नवधा-भक्ति मानी गई है:—१-श्री भगवान के गुणों को अत्यन्त श्रद्धा के साथ सुनना २-उनके दिव्य चरित्रों तथा उनके नाम का कीर्तन करना ३-मन में भगवान के रूप का स्मरण करना ४-उनके चरणों का सेवन करना ५-विविधोपचारों से अर्चन करना ६-अनेक स्तोत्र तथा पदों से वन्दन करना ७-उन का दास्य भाव या कैंकर्य में हो प्रसन्न रहना ८-सख्य भाव रखना ९-आत्म निवेदन या अपना सर्वस्व उन्हें अर्पण कर देना। इनके आचरण से प्रियता की व्यक्ति होती है। निर्गुण उपासना कठिन है, क्योंकि नामरूप का अभिमान निवृत्त होना अत्यन्त कठिन है। नामरूप के अभिमान से निवृत्त हुये बिना निर्गुण उपासना नहीं हो सकती। सगुण उपासना में यह कठिनाई हटा दी गई है, अर्थात् ब्रह्म नामरूप विशिष्ट होकर भक्त के अनूकुल अपनी क्रियाओं को करता है। इसलिये अत्यन्त प्रेमास्पद ये व्यवहार भक्ति मार्ग में माने गये हैं। इसी को वैड़ाली धृति कहते हैं,-जैसे बिल्ली अपने छोटे बच्चों की स्वयं सँभाल करती है, बच्चे तो केवल अपनी माँ को ही सब व्यवहार छोड़ कर स्मरण किया करते हैं। निर्गुण उपासना में यह बात नहीं है; इसको वानरी धृति कहते हैं,-जैसे वानरी का बच्चा अपनी माँ को खुद पकड़े रहता है, माँ को उस की वैसी चिन्ता नहीं करनी पड़ती, जैसे बिल्ली अपने बच्चों को एक जगह से दूसरी जगह मुँह में दबा कर ले जाते वक्त दिखाती है। वानरी अपने बच्चों की रखवाली उतनी नहीं करती, इसलिये सगुण उपासना सरल है। गीता में भी "क्लेशोधिकतर स्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्"—अर्थात् अव्यक्त निराकार में चित्त लगाने वाले को अधिक क्लेश होता है, तथापि प्राप्तव्य एक ही

ब्रह्म होने से मूल में कोई भेद नहीं, केवल साधनों का ही भेद है। शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य आदि व्यक्तियाँ सगुण ब्रह्म की हैं। इसलिये ये सब उपासक सगुण उपासना के ही करने वाले हैं तथा एक ही गति इनकी है।

३—अनन्त शक्ति परमात्मा ने अपनी अनेक प्रकार की शक्तियों से हर एक पदार्थ को व्याप्त कर रक्खा है। प्रत्येक पदार्थ स्थूल सूक्ष्म रूप में रहते हुये भी बिना चैतन्य शक्ति ब्रह्म के अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। स्थूल जगत में जिन अनेक प्रकार की बारीकियों वाली कारीगरी को देखकर हम लोग आश्चर्यचकित होते हैं कि यह रचना-वैचित्र्य किस तरह हुआ, किस ने और क्यों किया, आदि बातें मनुष्य बुद्धि से परे के विषय हैं। इससे कहीं अधिक सूक्ष्म अन्दर के जगत का रहस्य है। परन्तु उसका ज्ञान बिना योग या उपासना के नहीं हो सकता। ब्रह्मा, विष्णु, और महेश ये तीनों देव उस जगत में मूर्तिमान् रूप में रहते हैं। अनेक देवता, ऋषि, सिद्ध, साध्य, किन्नर, गन्धर्व, पितर, भूत, पिशाच आदि सब उसी सूक्ष्म संसार में रहते हुए अपने-अपने अधिकारानुसार इस स्थूल जगत में शासन करते हैं। इनमें बहुत से क्रूर स्वभाव वाले देव हैं, जो रुद्र के साथ रहते हैं। ब्रह्मा के साथ सौम्य स्वभाव के, तथा सौम्यतर स्वभाव के विष्णु के साथ रहते हैं। वास्तव में इन तीनों देवों का ही सूक्ष्म जगत में पूर्ण प्रभुत्व है। स्थूल जगत में जो कोई भी शुभ अशुभ दृश्य उपस्थित होता है, उसका कारण यही सूक्ष्म जगत है। इसीलिये वेद में विष्णु देवतात्मक मन्त्रों से तथा रुद्राध्याय के मन्त्रों से अनेक ऐश्वर्य की प्राप्ति तथा कष्ट के निवारण के लिये विष्णु तथा रुद्र की प्रार्थना करने की आज्ञा दी गई है, तथा देवताओं की मूर्ति

एवं स्वरूप का निर्णय भी वेद ने बहुत से मन्त्रों से बताया है कि अमुक कार्य का करने वाला देवता अमुक प्रकार की पूजन सामग्री से तुष्ट होता है, और उसका स्वरूप ऐसा है; वेदान्त दर्शन तथा मीमांसा दर्शन के देवताधिकरण में देवतातत्त्व का निर्णय किया गया है। इसी तत्त्व को लेकर मूर्ति-पूजन की उपासना प्रवृत्त हुई है। गीता में भी एक ब्रह्म की उपासना, देवताओं की उपासना, यक्ष-राक्षस की उपासना, और भूत-प्रेत की उपासना ये चार क्रम उपासना में माने गये हैं। वास्तव में इन चारों अवस्थाओं में एक ब्रह्म ही की भक्ति होती है, तथापि फल की कामना से दूषित अन्तः करण वाले उपासक ऐसा नहीं समझते; वे समझते हैं कि इस अमुक देवता, यक्ष, भूत ने हमारा कार्य सिद्ध किया है, और वह फल देने में स्वतन्त्र है; परन्तु ऐसा नहीं है। 'फलमत उपपत्तेः' इस वेदान्त सूत्र से यह माना गया है कि एक व्यापक परब्रह्म ही फल का दाता है। 'ब्रह्मदृष्टि रुत्कर्षात्'-इस वेदान्त सूत्र से प्रतिमा आदि में उत्कर्ष फल की प्राप्ति के लिये ब्रह्म दृष्टि का विधान किया गया है। अतः ब्रह्मभाव की उपासना श्रेष्ठ, अवशिष्ट तीनों न्यून कोटि की हैं। इसलिये गीता में कहा है-'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' अर्थात् ब्रह्म को छोड़कर अविधि पूर्वक विभिन्न देवताओं की पूजा वे साधक गण करते हैं। पुराणों तथा तन्त्र ग्रन्थों में यह विषय अत्यन्त विस्तृत एवं परिष्कृत रूप में कहा गया है। देवताओं का स्वरूप एवं देव मूर्तियों का ध्येय क्रम स्पष्ट रूप में मिलता है। जिस प्रकार एक सुन्दर पुरुष या स्त्री को देखकर सौम्य भाव का उदय होता है, पहलवान को देखकर वीरभाव, तथा साधु-महात्माओं को देखकर शान्ति-भाव का, एवं परमात्मा का स्मरण होता है, इसी प्रकार

इन मूर्तियों से अनेक दैवी भावों का उद्गम होता है। मानव जीवन में आवश्यक समझ कर ही ये क्रम आविष्कृत हुए हैं। इनके द्वारा किसी प्रकार का पाखण्ड, दम्भ या स्वार्थ सिद्धि का उद्देश्य नहीं है। यदि आज कोई ऐसा करता है तो वह व्यक्ति या समाज इसका जिम्मेवार है, इससे यह सिद्धान्त दूषित नहीं हो सकता। इन मूर्ति कल्पनाओं के विचार से पूर्व क आचार्यों की अपूर्व बुद्धि चतुरता मालूम होती है। उग्र भाव की व्यक्ति के लिये हनुमान, भैरव, दुर्गा, काली आदि मूर्तियों की रचना की गई है। सौम्य भाव की व्यक्ति के लिये नारायण, शंकर, सरस्वती, लक्ष्मी, आदि द्वारा उल्लेख हुआ है। वास्तव में यह एक विचित्र शिल्प है, जो सूक्ष्म जगत का स्थूल जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस तत्त्व का विचार न करके बहुत से मनुष्य इस विज्ञान के विरोधी हो गये हैं, जिस से इसकी सच्चाई भी लुप्त होती जा रही है।

४—प्रधान देवताओं की ३३ संख्या मानी जाती है, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, इन्द्र, और प्रजापति के क्रम से इनका विभाग किया गया है। इनमें भी गौण-प्रधान भाव है। जो प्रधान देवता हैं, उनकी गणना विभूति योग में गीता के दशवें अध्याय में श्री वासुदेव ने बताई है। उसको ध्यानपूर्वक विचार ने से यह रहस्य ज्ञात होता है कि ऋषियों ने विभिन्न देवी-देवताओं के साथ अनुकूलता का अनुभव करके कुल-धर्म के अन्दर कुलदेव तथा कुलदेवियों का सम्बन्ध स्थापित करते हुए सन्तान रूप से प्रवृत्त प्रजा में उपासनीय बताया है कि अमुक कुल में शिव, विष्णु, दुर्गा, स्कन्द आदि कुलदेवों का तथा भिन्न-भिन्न देवियों का पूजना योग्य है। यह निर्णय वास्तव में

तत्त्व ज्ञान से ही हुआ है। इस प्रकार पूजन से कुल धर्म की योगक्षेम प्रणाली सुचारु रूप से चलने के अभिप्राय से ही यह नियत किया गया है। ऐसा न करने से कुल धर्म का विनाश बताया गया है, और ऐसा होने पर पतन होता है। इसी के अन्दर पितृकर्म श्राद्ध भी बताया गया है। वेद और पुराण में यह प्रसङ्ग अनेक बार ताकीद के साथ आया है। "देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तुवः"–इस गीता वचन का भी यही भाव है।

५—अनेक प्रकार की उपासना-प्रणाली वैदिक धर्म में चलने का मुख्य कारण यह भी है कि सृष्टि अनेक प्रकार की है; एक ही प्रकार सब को अनुकूल नहीं हो सकता। वास्तव में सभी मनुष्यों को एक लाठी से हाँकना कभी भी उचित नहीं हो सकता। सृष्टि पञ्चतत्त्वात्मक है, इसलिये इन तत्त्वों के अनुसार एक ही ब्रह्म को पाँच प्रकार से उपास्य बताया गया है। विष्णु, सूर्य, शक्ति, शिव और गणेश इन देवताओं का निर्णय तथा इनके स्वरूप का निर्णय तत्त्व क्रम से ही हुआ है। नील वर्ण आकाश का है, इसलिये विष्णु की मूर्ति श्याम वर्ण की होती है। वायु तत्त्व का हरित वर्ण है, इसलिये सूर्य रूप से प्राण की उपासना में हरा रंग वायु का माना गया है; स्वरोदय में इसका निर्णय है। दुर्गा या शक्ति मूर्ति अग्नि तत्त्व वाली होती है, इसलिये इसे प्रायः लाल रँगा जाता है। हनुमान, भैरव भी इसी के अन्तर्गत हैं। जल तत्त्व के अनुसार शिव की मूर्ति होती है, इसलिये इसे शुभ्र वर्ण वाली मानते हैं, और जल प्रधान रूप से चढ़ाते हैं। गणेश मूर्ति पृथिवी की है, इसलिये इसे स्थूलाकार में बनाते हैं; इसको लाल और पीले दोनों रूपमें बनाते हैं। इस तरह इन पञ्च देवों के साथ

साधकों का ऐक्य जानकर उपासना की जाती है, तभी यथार्थ फल होता है। वास्तव में चिन्तन की सुलभता के लिये ही यह क्रम निश्चित किया गया है। इस से कोई पाँच ईश्वर पृथक्-पृथक् न समझ लेवें, इसलिये बार-बार ईश्वर के एकत्व का स्मरण शास्त्रों में दिलाया गया है। वास्तव में यह प्रसङ्ग अत्यन्त रहस्य मय है। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य, गणेश, आदि नामों से जिन रहस्यमय अर्थों का बोध होता है, उन अर्थों के अनुसार अनेक मन्त्र, स्तोत्र, कवच, आख्यान, चरित तथा विस्तृत पुराण-ग्रन्थों की सृष्टि हुई है। निष्पक्ष रूप से महर्षि व्यास ने स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रूप से इन देवताओं के नाम से पुराणों की रचना करके नामार्थ के अनुकूल आध्यात्मिक, दैविक, भौतिक वृत्तान्तों द्वारा प्रत्येक उपासना का निर्णय कर दिया है। सात्विक, राजस, तामस और मिश्रित के भावों से प्रत्येक उपास्य भावों की व्याख्या की गई है,—जैसे रामोपासना में राम नाम की महत्ता मानी जाती है। 'राम' शब्द का अर्थ रमण करने वाला, सुन्दर, अभिराम, सौम्य आदि भावों को व्यक्त करता है। इसी अर्थ को लक्ष्य करके गो० तुलसीदास ने राम-चरित्र की व्याख्या की है। प्रत्येक उपासना में चार प्रकार से इष्टका स्वरूप कहा जाता है (१) (सात्त्विक, राजस और तामस, ये तीनों भाव गीता के १८ वें अध्याय के २०, २१, २२ वें श्लोकों से लिये गये हैं) व्यापक, निराकार, अगोचर, पूर्ण, सर्वसामर्थ्ययुक्त, वेदान्त प्रतिपाद्य इष्ट का स्वरूप तात्त्विक रूप वाला मुख्य होता है, इसे ही सात्त्विक भाव कहते हैं। 'विनु पग चले, सुने बिनु काना' आदि चौपाइयों में इसे ही बताया गया है (२) साधन से लब्ध सगुण साकार तथा साधन के अङ्गभूत नाम या मन्त्र का प्रतिपादन दूसरा क्रम है, इसमें

मानस क्रिया की प्रधानता होने से इसे राजसभाव लब्ध कहा जा सकता है । 'जय सच्चिदानन्द गुणधामा, प्रेम ते प्रकट होहिं हम जाना'-आदि, तथापि सात्त्विक सुखात्मक वृत्तियों की इस रूप में भी प्रधानता रहती है । (३) अवतार से व्यक्त चरित अत्यन्त स्थूल रूप में सब को द्रष्टव्य अयोध्या, मथुरा आदि अवस्थानों में प्रकट होकर अनेक लोलाओं का करना यह भी सात्त्विक व्यवहार है, तथापि स्थूल होने से इस भाव को तामस कह सकते हैं । (४) अन्य भावों से मिश्रित स्व-इष्ट की प्रधानता तथा अन्य भाव की गौणता,—जैसे राजगद्दी हो जाने पर शिव आदि देवताओं द्वारा पूर्ण ब्रह्म रूप से श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति का वर्णन तथा शिव एवं शक्ति भाव की अप्रधानता से राम उपासना में उपयोग बार-बार ग्रन्थकार ने राम भक्तों को स्मरण कराया है । इस रीति से निवृत्ति प्रवृत्ति सभी विहित व्यवहारों का एकी करण कर दिया गया है । ऐसी ही कृष्ण, शिव, विष्णु, शक्ति आदि देवताओं के प्रतिपादन करने वाले पुराण ग्रन्थों की व्यवस्था है । इस रीति से सब का स्वतन्त्रत्व सिद्ध होता है । बहुत से लोग पुराणों में सात्त्विक, राजस, तामस, और मिश्र की कल्पना करते हैं, परन्तु यह विचार एकदेशीय है । ये चारों भाव प्रत्येक पुराण में हैं । एक देव को जिस में मुख्यता रहती है, अन्य का गौण रूप से वर्णन होता है, यही पुराणों की शैली है ।

६—जैसे बिजली के आने के लिये द्विविध (Negative and Positive) तारों का युग्म लगाया जाता है, वैसे ही उपासना में दो भावना के मिले बिना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । उसमें एक प्रधान तथा दूसरी अप्रधान होती है । इसलिये प्रधानतः एक देवता के पुराण में दूसरे देवता का चरित गौण रूप से कहा

गया है। गो० तुलसीदास ने इसीलिये राम के भक्तों को शिव की उपासना करना बतलाया है। ऐसा ही क्रम भागवत, शिव-पुराण, आदि ग्रन्थों में भी माना गया है। साधना में भी मुख्य भाव के साथ पूरक रूप से अपने इष्ट रूप ध्येय से भिन्न भावना का मन्त्र, उपासना, सिद्धिका अत्यन्त हितकर उपाय गुरुजन बताते हैं। इसीलिये शैव भाव में विष्णु, राम, कृष्ण, आदि भावों को भी गौण रूप में मानते हुये शैवा ने ग्रहण किया है। इस से ज्ञात होता हैं कि पुराण साहित्य भी परस्पर ऐक्य स्थापित करते हुए एक ही ईश्वर का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से वर्णन करता है।

७—परब्रह्म परमात्मा की पराशक्ति का योग होने पर ब्रह्म सच्चिदानन्द या सगुण कहा जाता है। पराशक्ति और ब्रह्म तत्त्वतः एक ही वस्तु हैं। इसी योग से ब्रह्मा, विष्णु, और महेश इन तीन ईश्वरात्मक मूर्तियों की व्यक्ति होती है, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन पुराणों में किया गया है। ब्रह्मा कर्मात्मक, वेद भाग का प्रकाशक, एवं सृष्टि का कर्ता प्रवृत्यात्मक सरस्वतीयोग वाला माना गया है, तथापि यह योग निवृत्ति को प्रतिपादन करने वाली ब्रह्म विद्या, उमा की मूर्ति पार्वती का कार्य है; उत्तमचरित में कहा गया है—'शरीर कोशाद्यत्तस्याः पार्वत्या निःसृताम्बिका, (सप्त सती ५,८७) पार्वती अम्बिका के शरीर कोश से अम्बिका का निःसरण हुआ, जो महासरस्वती कहलाती है। इसलिये प्रवृत्यात्मक ब्रह्मा-सरस्वती योग, निवृत्यात्मक शिव-पार्वती योग का ही रूपान्तर है। राग-मूलक होने से ब्रह्मा का रूप रक्त वर्ण का तथा इससे रहित होने से शिव का स्वच्छ, शुभ्र माना जाता है। ब्रह्मा के हाथ में दण्ड, कमण्डलु, वेद, माला और उनका चतुर्मुख का होना, संयम, ज्ञान, शुद्ध विचार, तप, व्यवहार का

सर्वतोज्ञान होने की सूचना मिलती है। ज्ञान का महत्व आत्माराम होना है; इसका यथार्थ परिचय शिव रूप के योगी वेश से मिलता है। प्रकृति पराङ्मुख ही इस रूप का महत्व तथा ध्यान-निष्ठा ही चरम लक्ष्य है। इसीलिये शिव-विवाह को पुराणों में हास्य रूप से व्यक्त किया गया है। प्ररूढ़ प्रवृति ही ब्रह्मा का विषय है, इसलिये उपासना या ज्ञान में ब्रह्मा का स्थान नहीं है,—केवल कर्म में ही ब्रह्मा पूजनीय माने गये हैं। निष्काम कर्म से ही उपासना तथा ज्ञान में अधिकार होता है; यह अवस्था विष्णु की है। इस मूर्ति में ऐश्वर्य तथा निवृत्ति का भाव व्यवस्थापित है। इसमें पराशक्ति ने लक्ष्मी का योग प्रदान किया है; अतः इसे लक्ष्मी-नारायण योग कहते हैं। प्रवृति-निवृति का विरोध हटाकर इस रूप में ऐक्य होने से तीनों रूपों में इसकी मुख्यता बतायी गई है। इसीलिये वैष्णवाचार्य ज्ञान कर्म समुच्चय मानते हैं, और परस्पर दोनों का अविरोध बताते हैं। इसी भाव का निदर्शन दक्ष-यज्ञ में दिया गया है। उमा के देह-त्याग द्वारा शिव के अपमान से केवल यज्ञ-विद्या का विध्वंस बताया गया है, तथा शिवस्वरूप में कर्म विद्या का त्याग सूचित होने से दोनों के विरोध का अभिप्राय व्यक्त होता है, और विष्णुयोग से यज्ञ की सिद्धि बताई गई है। उमा के देहत्याग से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यज्ञ-विद्या ब्रह्म-विद्या के बिना अपना स्वरूप लाभ नहीं कर सकती। मुख्य का तिरस्कार, अमुख्य का भी तिरस्कार ही है। इसलिये समुच्चय की आवश्यकता हुई। कारण के बिना कार्य की स्थिति नहीं होसकती, इसलिये कहा है—'यद् विद्यया उपनिषदा तद् बलवत्तरं भवति' अर्थात उपनिषद् विद्या से युक्त होने पर कर्म विद्या बलवती होती है। यह विषय रहस्य का है, जिसे कहा

गया है—'चक्षुष्मन्तोऽनुपश्यन्ति' अर्थात् ज्ञान दृष्टि वाले ही इसे जान सकते हैं, सो यथार्थ ही है; तथापि ये तीनों मूर्तियाँ ईश्वर कोटि में ही हैं, इन्हें जीव कोटि में मानना ठीक नहीं।

८—पुराणों में इन तीनों मूर्तियों में अज्ञान का भी सम्बन्ध बताया गया है, तथापि ऐसे प्रसङ्गों को पराशक्ति की अपेक्षा से ही मानना चाहिये, जैसे ब्रह्मा को पूर्ण ईश्वरत्वाभिमान की निवृत्ति, कृष्णावतार में मोहनी रूप प्रसंग में शिव को मोह, एवं जालन्धरोपाख्यान में विष्णु को कामुकता का दोष दिखाया गया है-इत्यादि कथाओं का अभिप्राय इन्हें अलग-अलग ईश्वर मानने पर ही बताया गया है। वास्तव में इन तीनों रूपों को समान रूप में मानने पर समन्वित रूप में दोष नहीं है। इसलिये कर्म, ज्ञान, उपासना, इन तीनों का समन्वित रूप ही पूर्ण फलदायक एवं यथार्थ है, ऐसा सिद्ध होता है, अथवा एककी मुख्यता आचरण काल की है, पारमार्थिक नहीं। इसलिये अपने-अपने स्थान में तीनों की बड़ाई ठीक ही है। इस प्रकार गौण-मुख्य भाव भी संगत है, क्योंकि व्यवहार काल में गौण-मुख्य भाव का होना अनिवार्य है।

९—ब्रह्मा, विष्णु, और शिव के साथ अपने से भिन्न शक्तियों का योग कन्या या भगिनी रूप में बताया गया है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र भी शक्ति ही के रूपान्तर हैं। अपना-अपना योग पाकर 'पुरुषत्वं प्रपेदिरे' के अनुसार पुरुष रूप से व्यवहृत हुए हैं। ब्रह्मा की भोग्य-शक्ति गायत्री, सावित्री बतलाई गई हैं; सरस्वती का योग तो ब्रह्मा के साथ कन्या रूप में है। सरस्वती ब्रह्मा की भोग्य-शक्ति नहीं है, ज्ञान-शक्ति तो शिव की भोग्या है। इसीलिये सरस्वती को भोग बुद्धि से कामना करने से शिव द्वारा ब्रह्मा का

शिरःछेद बताया गया है। बिना शिवत्व प्राप्त किये विद्या-शक्ति का भोग शिरःछेद ही के तुल्य है, क्योंकि पशुभाव में विद्या का उपभोग अन्धंतम को ही प्राप्त कराता है। शिव के साथ लक्ष्मी का योग रक्षात्मक भाव एवं ऐश्वर्य के साथ भगिनी रूप से वेद ने बताया है—"एष ते रुद्र भागः सहस्वस्राऽम्बिकया तंजुष स्वव स्वाहैष तेरुद्रभागआखुस्तेपशुः"-(यजुः ३-५९) अर्थात्—'हे रुद्र, यह तुम्हारा भाग है; आपकी भगिनी अम्बिका के साथ ग्रहण करो। यह तुम्हारा भाग और आखु या चूहा तुम्हारा पशु है।" इस योग से शरत्काल की आपत्तियों की शान्ति होने के लिये विधान किया गया है। परन्तु भाष्यकारों ने इस मन्त्र में क्रूर देवता का योग बताया है; सो वास्तव में ठीक नहीं मालूम होता, या अलक्ष्मीके नाश में लक्ष्मी की क्रूरता के अभिप्राय में भाष्यकारों ने बताया है, इस प्रकार संगति लग सकती है। शतपथ श्रुति भी केवल "अम्बिकाहवै नामास्य स्वसा" कहती है, स्वसा का अर्थ वास्तव में भगिनी ही का है; यह शक्ति रुद्र की भोग्या नहीं है। यह भी प्रसिद्ध है कि शिव मूर्ति अशिव रूप में रहती हुई भी समस्त ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली है। 'अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं, तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि।' अर्थात्—'हे वरद, तुम्हारा सभी व्यवहार अमांगलिक है, परन्तु स्मरण करने वालों के लिये परम मङ्गलस्वरूप हो।' लक्ष्मी के योग के बिना यह नहीं हो सकता। "आखुस्ते पशुः" मन्त्र के इस अंश से ज्ञात होता है कि गणेश मूर्ति की भी कल्पना इसी योग से की गई है, जो विघ्नों का नाश करने वाली तथा सभी ऐश्वर्यों की दाता, तथा मूषक वाहन वाली है। पार्वती और शिव के गणेश भोग्य पुत्र नहीं हैं। उमा ने अपने

अंग के मलिन अंश से उनका निर्माण किया था। उमा की अपेक्षा से ऐश्वर्य की न्यूनता बताना ठीक ही जँचता है, क्योंकि ब्रह्म विद्या ही सब विद्याओं से श्रेष्ठ है। शिव से विपरीत होने पर इसका भी शिरः छेद बताया गया है, और लक्ष्मी का अत्यन्त प्रिय हाथी का मस्तक प्रदान करके पुनः इसे जीवित किया गया है। लक्ष्मी के ध्यान में हस्ती का योग ध्यान में माना गया है- "कान्त्या काञ्चन सन्निभां हिम गिरि प्रख्यैश्चतुर्भि गजैर्हस्तोत्क्षिप्त हिरण्मयामृत घटैरासिच्यमानां श्रियम्"; गणेश पूजन माङ्गलिक रूप से प्रत्येक वैदिक के घर में सर्व प्रथम इसी अभिप्राय से किया जाता है। शिव-पार्वती योग में पार्वती की श्रेष्ठता है; लक्ष्मी की गौणता है। इसीलिये लक्ष्मी के रूपान्तर सीता द्वारा गो० तुलसीदास ने गिरिजा पूजन को लिखा है। शिव के साथ लक्ष्मी का भी योग है, लक्ष्मी का विष्णु के साथ नित्य योग है, जो शान्ति, ज्ञान आदि शुभ गुणों से अपना रूप प्रकाशित करती है। षट्कर्म दीपिका ग्रन्थ में शान्ति कर्मों के लिये वैष्णव मन्त्रों का उपयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त वैदिक मन्त्र में रुद्र के साथ लक्ष्मी का ही योग है। इसीलिये शान्ति कर्म में इसका विनियोग किया गया। शिव की लक्ष्मी भोग्या न होने से शिव वैष्णव कहे जाते हैं, ब्रह्मा की तरह शिव को कभी वैपरीत्य नहीं हुआ, क्योंकि उनके साथ उमा का योग है। उमा का ही दूसरा रूप काली शक्ति है, जिससे रुद्र संहार करते हैं। उसका विष्णु के साथ भगिनी का योग है, जिसका अवतार नन्द के घर यशोदा के गर्भ से हुआ था—भागवत पुराण में कृष्णानुजा रूप से जो प्रसिद्ध है। इसीसे विष्णु असुरों का संहार करते हैं। "कालोऽस्मि लोकक्षय कृत प्रवृद्धः" इस गीता वचन से

काल भाव विष्णु का समर्थित होता है। शिव का विष्णु में, तथा विष्णु का शिव में वैपरीत्य न होने से ही दोनों का अभेद एवं दोनों मूर्तियाँ उपास्य मानी जाती हैं। जब सती रामचन्द्र की परीक्षा करने गई थीं, तब सीता के रूप में सती को देख कर भी रामचन्द्र जी को वैपरीत्य नहीं हुआ; प्रत्युत उन्हें पहचान कर जगज्जननी से रूप में ही उन्हें नमस्कार किया था। इसलिये श्रीराम को भी परम शिवभक्त शैव मानते हैं। देवी भागवत में सरस्वती योग भी विष्णु के साथ बताया गया है, जो सरस्वती और लक्ष्मी के विरोध बताने में लिखा गया है। इसी योग से विष्णु मुमुक्षुओं को ज्ञान देकर मुक्त करते हैं। "ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते" इस गीता वचन से संगत होता है। शिव का भी उमा के साथ ब्रह्मविद्या योग, काली के साथ संहार प्रवृत्ति योग, षोड़शी के साथ आनन्द योग से पूर्ण ब्रह्मत्व माना जाता है। कल्प भेद से शिव से भी विष्णु को ही तरह उत्पत्ति, स्थिति, संहार, इन तीनों भावों को उपासना की श्रेष्ठता के अभिप्राय से पुराणों में कहा गया है।

१०—पुराणों में इन शक्तियों तथा इनके पुरुष भाव के योग में कभी-कभी विरोध भाव भी दिखलाया गया है, जो वास्तविक नहीं है। सम्भावना में यह लिखा गया है या शक्ति-तत्व की महत्ता बताने के अभिप्राय में है, अन्यथा योग भङ्ग होने से पालन, सृष्टि, संहार ये जो तीनों भाव सृष्टि के हेतु हैं, जो इन त्रिविध योगों से ही चल रहे हैं, नष्ट हो जायेंगे तथा कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता—जैसे हयग्रीव रूप धारण करने में लक्ष्मी का विष्णु शाप, सावित्रीकृक मुख्य स्थानमेंसे ना ो ठब गायत्री का शाप, ब्रह्मा को धात्री वृक्ष होने का कार्तिक माहात्म्य

में, श्री रामचन्द्र की परीक्षा करने पर शिव द्वारा सती का त्याग तथा सती का परा रूप धारण करके शिव को पराभूत करना शिवपुराण तथा महाभागवत में कहा गया है। ये सब कथानक शक्ति के महत्व वताने के अभिप्राय में हैं। अद्भुतरामायण में सीता का महाकाली रूप धारण करना भी एक अद्भुत वात है, तथा श्री राम की परीक्षा में सती का सीता रूप बनाना भी ऐसी ही बात है। सती द्वारा वैपरीत्य उपस्थित होने पर शिव-सती-योग भंग हुआ और सती का त्याग शिव ने किया, परन्तु सती के बिना शिव अपना कार्य नहीं कर सकते थे। जब देवताओं की प्रार्थनानुसार पुनः उमा-योग पाकर शिव हर्षित हुए। जबतक उमा का योग शिव को नहीं प्राप्त होता तब तक शिव शव रूपवाले हैं, और स्वकार्य करने में सर्वथा अक्षम हैं। इसीलिये तारा, काली आदि रूपों में शव रूप से शिव की मूर्ति बनाई जाती है। परन्तु सती जो ब्रह्मविद्या है, उस पर भी भ्रम या अज्ञान का आवरण आता है, जिससे वह राम को न पहचान कर भ्रम में पड़ जाती है। यह कथा केन उपनिषद् में कही गई है। हैमवती उमा के सिद्धान्त से विपरीत पड़ती है, क्योंकि सतीनाम पतिव्रता का है। इसी प्रकार ब्रह्मविद्या नियमेन परब्रह्म से अलग नहीं होती, फिर ऐसी कथा लिखने से साफ विरोध ज्ञात होता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञान का परस्पर विरोध है, भ्रम अज्ञान से ही होता है। श्रीराम तथा शिव के अगाध प्रेम को वताने के अभिप्राय में ही मालूम होता है, पुराणकार ने ऐसा लिखा है, तथापि वास्तव में ऐसा नहीं है। इसे भी संभावना में ही ले सकते हैं। ऐसा ही भाव हयग्रीव रूप में लक्ष्मी और नारायण के योग का समझना चाहिये।

११—ब्रह्म और शक्ति का वास्तव में कोई रूप नहीं है, तथापि मन्त्र और ज्ञान-शक्ति से भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करने के लिये साधक की भावना के अनुसार पुरुष और स्त्री रूप में, तथा किसी और अभीष्ट रूप में परमतत्व शक्ति विशिष्ट रूप से प्रकट होता है। कितने ही लोगों का इस विषय में ऐसा मत है कि मनुष्य का ही ख्याल केवल पैदा होता है, परमात्मा की व्यक्ति नहीं होती; तथापि बात ऐसी नहीं है—जैसे कुम्हार साधन और अपने ख्याल मात्र से ही बर्तनों को नहीं पैदा करता उसके ख्याल प्रकट करनेके लिये मृत्तिका रूप आधारकी अपेक्षा है। उसके ख्याल के अनुसार घट आदि वस्तुएँ मृत्तिका के विना नहीं बन सकती, इसी तरह साधना के विषय में भी है। मन्त्र और चिन्तन से जो मूर्ति बनती है वह सच्चिदानन्दात्मक ही है, वह मूर्ति केवल कल्पना मात्र नहीं है। जिस मूर्ति से दया, श्रद्धा बुद्धि, कीर्ति, श्री, आदि स्त्री भावात्मक शुभ गुणों की व्यक्ति होती है, उसे स्त्री-रूप में उपासना करते हैं। धर्म, बल, ज्ञान, पराक्रम, मोक्ष आदि पुरुष भाव सूचक तत्वों का ध्यान पुरुष सूचक मूर्तियों से करते हैं। ऐसे ही इनके बाहनों के विषय में भी है। गरुड़ बाहन धर्म की सबसे तीव्र गति को बताता है; इसका योग विष्णु से है। "धर्मस्य त्वरिता गतिः" इससे विष्णु शीघ्र ही भक्तों का दुःख निवारण करते है, तथा पालन कार्यों में उनकी अत्यन्त तीव्रता रहती है। यही धर्म शिव-योग में वृष का रूप धारण करता है—"धर्मो वै चतुष्पाद्वृषः" इससे पालन का भाव लिया गया है। शक्तिक्रम में यही सिंह रूप धारण करके महाबली हो गया है—"दक्षिणे पुरतः सिंहं समग्रं धर्ममीश्वरम्"। भैरव के साथ यही श्वान रूप से संतोष, स्वामिभक्ति, जागृति आदि शुभ

गुणों को व्यक्त करता है, गणेश के साथ मूषक रूप में विघ्नों को कतरने का काम करता है, हनुमत्तत्व से बन्दर रूप में स्वामिभक्ति, तीव्रता, स्वकार्य करने में प्रवीणता आदि भावों को लिया गया है। इसी तरह उपासना मार्ग में यह तत्व निश्चित किया गया है। बुद्धिमानों को इस पर विशेष रूप में ध्यान देना चाहिये। इन भावों के चिन्तन से साधक में विभिन्न गुण प्रकट होते हैं, जो अनेक प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले हैं, तथा त्याग से इनसे परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है।

❀ इति तृतीय खण्डः ❀

T

ज्ञान योग रत्नमणि ग्रन्थनम्

उपासना मानसिक क्रिया का नाम है। इसके द्वारा मन पवित्र होता है, और तब विवेक शक्ति का विकास होकर साधक तत्त्वज्ञान का अधिकारी बनता है। उपासना के बाद तत्त्वज्ञान या विचार का प्रसंग आता है। इसलिये अब तत्त्वज्ञान का क्रम लिखते हैं। इस क्रम में अनेक मतभेद हैं, तथापि स्वानुभव इस विषय में जैसा है, तथा शास्त्रोंका निष्पक्ष रूप जैसा ज्ञात हुआ है, उसे ही ग्रहण किया गया है। मतभेद का होना इस प्रसंग में अनिवार्य है, तथापि इस पर ध्यान न देते हुए विचारकों को मनोयोग से इसे मनन करना चाहिये। यह विचार-शैली पाठकों को अवश्य मनोरंजन करने वाली सिद्ध होगी, ऐसी पूर्ण आशा है।

१-- जगत की उत्पत्ति, स्थिति, लय-ये तीनों भाव परब्रह्म की पराशक्ति ही कर रही है। पराशक्ति सच्चिदानन्द रूप वाली है; उसकी इच्छा से उत्पत्ति, स्थिति, लय की शक्तियाँ अपना अपना व्यवहार कर रही हैं। ये तीनों शक्तियाँ तथा इच्छाशक्ति पराशक्ति से ही प्रकट होती हैं। इच्छाशक्ति को शिवसूत्र में 'इच्छाशक्तिरुमाकुमारी' कहा गया है। इच्छाशक्ति को ही Will कहते हैं। सत्-शक्ति, चित्--शक्ति, या आनन्द--शक्ति ही अनेक रूपों में काम कर रही हैं। आनन्द--शक्ति ही मुमुक्षु भक्त तथा ज्ञानी पुरुषों को अपनाती है; उसे ही राधा, सीता, ललिता, षोड़शी आदि उपासना मार्ग में नाम दिया गया है। जो कुछ भी जगत में बुद्धिगम्य वस्तु आरही है, वह सब शक्ति रूपात्मक है।

शक्ति से भिन्न अशक्त, असत, मिथ्या, और निरर्थक हैं; उसके समस्त रूपों का निर्णय अवश्य पुरुष बुद्धि से असम्भव है।

इसलिये कहा है–"यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलं च"-इस पराशक्ति के अतुल प्रभाव को ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि ये सगुण देव तो उसके अधीन हैं। अनन्त कल्याण गुणात्मक शक्ति का ध्येय रूप है। इस अवस्था में शक्ति, शक्तिमान् का भेद नहीं है। जिसे हम लोग लोक में पुरुष या स्त्री कहते हैं, वे सब शक्ति के ही रूपान्तर हैं। शाक्त आचार्यों का निर्णय इस विषय में ऐसा है कि जिसे शैव 'शिव,' 'वैष्णव' 'विष्णु' और वेदान्ती 'ब्रह्म' कहते हैं, वह पराशक्ति का प्रेरक अधिष्ठानात्मक रूपान्तर है। इस लिये इन सभी मतों का ऐक्य सिद्ध होने से अभेद सिद्ध होता है।

२—सत्‌शक्ति समस्त शक्तियों का अधिष्ठान है; उसी को आधार शक्ति कहते हैं, जो समस्त जगत को स्थिर किये हुए है। जितने भी नियमित व्यवस्थात्मक कार्य हो रहे हैं, उनमें सब को व्यवहार योग्यता इसी से प्राप्त हो रही है। इसी के आश्रित अवि-द्या-शक्ति भी है, जो इस स्थूल जगत को पञ्चभौतिक रूप प्रदान करती है। यही स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों द्वारा, तथा अकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी इन पञ्चभूतों को रच कर समष्टि-व्यष्टि रूप इस दृश्यमान प्रपञ्च की रचना करके सब शक्तियों को अपना-अपना कार्य करने का क्षेत्र बनाती है। सत् शक्ति द्वारा ही ज्ञान शक्ति और आनन्द शक्ति भी अपने को प्रकट करती है। इसलिये इसे ही आधारबल रूप योगमाया काली या स्थिर माया कहते हैं। इस तत्त्व का साक्षात्कार ही साधक को प्रथम अपेक्षित है; इसके बिना आगे के क्रम का उद्घाटन नहीं हो सकता। इसके अन्दर भासित तत्त्व को 'काल' कहते हैं। इस

लिये स्थूल जगत की सब वस्तुएँ काल के अधीन हैं, मृत्यु भी इसी का रूपान्तर है, जो नियमन करने से 'यम' कहा जाता है। चित्-शक्ति शब्द-शक्ति के साथ ज्ञानात्मक शास्त्रों तथा सामान्य रूप से सभी जगत को व्यवहारात्मक रूप से प्रकाशित करती है; इसका और अविद्या शक्ति का विरोध है। इसी से ब्रह्म व्यक्त होकर अनेक प्रकार की लीलाओं को कर रहा है; अवतार भी इसी शक्ति से होता है। जीव भी चैतन्य शक्ति का ही रूपान्तर है, जो अविद्या शक्ति के आधार पर व्यक्त हो रहा है। यह आनन्द शक्ति का अभिलाषुक है, परन्तु अविद्या की स्थूलता आनन्द के सूक्ष्म रूप को अपने में से व्यक्त नहीं होने देती। अतः विषयों द्वारा जो सुख या आनन्द मिल रहा है उसी में लगा हुआ है, जो अविद्या से मिश्रित रूप में होने से अशुद्ध रूप में जीव ग्रहण करके बन्धन, क्लेश, जन्म, मरण, नरक, स्वर्ग अनेक उत्कृष्ट निकृष्ट योनियों में घूम रहा है, तथापि उसे आनन्द की असल मूर्ति नहीं मिलती। इसका कारण अविद्या की आवरण-शक्ति है, जिसने आनन्द को छिपा रक्खा है। अविद्या को हटाने वाली ज्ञान शक्ति या विद्या है, इसी से अविद्या की निवृति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार रज्जु में कल्पित सर्प या स्वप्न के पदार्थ रज्जु के ज्ञान या जाग्रत अवस्था के विवेक से निवृत्त होते हैं, उसी प्रकार अविद्या शक्ति विद्या से हट जाती है, इत्यादि दृष्टान्तों से अद्वैत वेदान्तियों ने बताया है, ब्रह्म में इन विरोधि युग्मों की स्थिति नहीं है। विद्या, अविद्या दोनों शक्तियों को ब्रह्म समान रूप से उनके रूप लाभ के लिये आधार है। इस तरह जीव अज्ञान से छूटता है, और यथार्थ आनन्द का पात्र बनता है। ब्रह्म और जीव का स्वरूपतः भेद नहीं है।

३—जब ज्ञान की शुद्ध अवस्था से जीव का परिचय होता है, तब समस्त वासनाएँ एवं कर्म-समुदाय भस्म हो जाते हैं—"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः"-हे अर्जुन, ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है। अज्ञानात्मक ज्ञान का बोध होकर शुद्ध ज्ञान प्राप्त होकर जीव कृतकृत्य और आनन्दित होता है—इत्यादि संकेतों से व्यवहार किया जाता है। अज्ञान प्रवृति ही द्वैत का प्रतिपादक है—"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसष्व जाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्योऽभिचाकशीति"—अर्थात् संसार रूपी वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक इस के स्वादु फल को भोग रहा है, दूसरा साक्षी रूप से इसे देख रहा है; दोनों पक्षी परस्पर मिले हुए मित्र-भाव से इस संसार में अपना-अपना व्यवहार कर रहे हैं। इस कल्पना से जीव, ईश्वर और संसार का बोध लिया गया है। इसे ही द्वैत कहते हैं; यह द्वैत स्थूल, सूक्ष्म रूप से दो प्रकार का है। स्थूल द्वैत की निवृत्ति विद्या से होती है, सूक्ष्म द्वैत आनन्द-शक्ति में है, और अविद्या से रहित होने के कारण शुद्ध है।

४—अविद्या शक्ति से मुक्त होने पर जीव आनन्द-शक्ति के परिसर में निराबाध अवस्था में पहुँच कर आनन्द-शक्ति की दिव्य लीलाओं का पात्र बनता है। वास्तव में यह खेल नित्य है--केवल भगवद्योगैक लभ्य है। यहाँ के विग्रह आनन्दात्मक हैं। श्रीकृष्ण, श्रीराम, श्री सदाशिव, श्री परा-शक्ति आदि उपास्य देव इसी भाव के मूल रूप से अभिव्यञ्जक कहे जाते हैं। यह दिव्य लीला शुद्ध आनन्दमयी है। आनन्द को व्यक्त करने वाली श्रीराधा श्री षोडशी—ये दोनों शक्तियाँ वैष्णव एवं शाम्भव क्रम में मानी गई हैं। इन्हें ही स्वरूपा शक्ति, ह्लादिनी शक्ति भी कहते हैं। इनकी

लीलाओं को श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में तथा कतिपय तन्त्र ग्रन्थों में दिव्य लीला रूप से कहा गया है। जीव अविद्या से मुक्त होकर आनन्दात्मक विग्रह प्राप्त कर इस लीला क्षेत्र में स्वच्छन्द विचरता है, तथापि अधिकार भाव से दूर ही रहता है: अर्थात् स्वयं ब्रह्म नहीं हो जाता। जिस ज्ञानात्मक उपाधि से इस लीला में प्रविष्ट होता है, वह चैतन्य आनन्द के अनुभावक रूप को पृथक् स्थिर रखती है, इससे द्वैत रहता है। यह द्वैत अज्ञानात्मक न होनेसे क्लेश आदि के जनक द्वैत से विलक्षण है, स्वरूपात्मक होने से इसे ही अद्वैत भी कहते हैं। जैसे एक शर्करा के अनेक खिलौने बनाये जायँ, उनके भिन्न-भिन्न घोड़ा, हाथी, आदि नाम एवं भिन्न भिन्न आकृतियाँ होती हैं, तथापि स्वाद में भिन्न नहीं, इसी प्रकार अद्वैत है। यह व्यक्ति जलतरङ्गवत या मृद्घटवत् अविरोधी है, उपासक आचार्यों का ऐसा ही निश्चय है। मायावादी अद्वैत सिद्धान्त में अविद्या-निवृत्ति के वाद स्वात्मानुभव होने पर और कोई चर्चा ही नहीं होती, क्योंकि इसके बाद की बातें इस भौतिक संसार में किसी तरह व्यक्त नहीं की जा सकतीं। "यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसासह"-यह श्रुति इसी अवस्था को व्यक्त करती है-न कोई साधन ही बचता है, जिस से कहा जा सके; केवल वाधितानुवृत्ति से लौकिक व्यवहार जीवन्मुक्त के होते हैं, तथापि वे आभास मात्र हैं। शरीर मात्र निर्वाह के उनका और कोई उपयोग नहीं। इन्हें ही 'प्रारब्ध' कहते हैं। पुराणों में आनन्दोल्लास का इस प्रकार का जो वर्णन मिलता है, वह 'शाखा-चन्द्र न्याय' से ही है। इस वर्णन को संकेत मात्र ही समझना चाहिये--इत्यादि बातें कही जाती हैं। यह लीला कभी स्थगित भी होगी, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि श्रमजन्य क्लेश वहाँ नहीं है। जहाँ श्रमजन्य क्लेश हो उस से उपरति होती है।

इसलिये उपासकों के यहाँ स्थगित होने का विचार ही नहीं होता। आधुनिक सन्त भक्तों ने इसी भाव को पदों, भजनों, वाणियों में अच्छी रीति से कहा है। यद्यपि अद्वैतवादी आचार्यों ने इसका वर्णन नहीं किया है, तथापि उपासकों की इस लीला की बातों का तिरस्कार भी नहीं किया है। श्री स्वामी शंकराचार्य जी के भक्ति प्रतिपादक स्तोत्रों से इसका समर्थन होता है; सौन्दर्य लहरी षट्पदी आदि स्तोत्र इसके प्रमाण हैं। प्राचीन साधक आचार्यों का यह भी एक गुप्त मत रहा है कि इस सिद्धान्त को अप्रकट तथा ज्ञान को प्रकट रूप से कहना योग्य है। मालूम होता है, इसी हेतु से आचार्य ने इसे गुप्त तथा ज्ञान को प्रकट रूप से कहा है, क्योंकि पूर्ण अधिकारी जितेन्द्रिय, आप्त काम पुरुष ही इसके वर्णन के अधिकारी हैं, अन्यथा इस से हानि भी हो सकती है।

५—शक्ति के अनुभवानुकूल दो स्वरूप माने जाते हैं-एक कार्य, दूसरा कारण। दिव्य लीलाएँ आनन्द शक्ति के कार्य हैं; ऐसा ही सत्-शक्ति, चित्-शक्ति के भी विषय में है। कारण-रूप में जब इनका अवस्थान होता है, तब उसे ही 'ब्रह्म' कहते हैं, क्योंकि पराशक्ति और ब्रह्म एक ही हैं। उसी अवस्था को निराकार मन वाणी से अगोचर बताया गया है। आनन्द-शक्ति के उद्रेक से लीला भाव व्यक्त होता है। उद्रेक कार्यात्मक है; अतएव निराकार अवस्था में लीला नहीं हैं। कार्य-कारण का अभेद होने से इसका सर्वथा अभाव भी नहीं है। कार्य-कारण का भेद आविर्भाव तिरोभाव से है; इस विषय में भगवान की इच्छा ही मुख्य है, क्योंकि आविर्भाव तिरोभाव उनकी इच्छा से ही होते हैं। लीला करना या उससे उपराम होना भगवान की इच्छा पर ही निर्भर है। इस विषय में वेदान्तियों का कहना है कि ब्रह्म का

किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता है; परिणाम अविद्या या माया का होता है—जैसे रज्जु में सर्प का परिणाम। रज्जु के आश्रित रही हुई अविद्या का परिणाम सर्प है; रज्जु तो विकार रूप परिणाम से सर्वथा रहित है, क्योंकि अवस्थान्तर की प्राप्ति को परिणाम कहते हैं, सो रज्जु में नहीं है। उपनिषद् में सुवर्ण मृत्तिका आदि के दृष्टान्त जो दिये गये हैं, वे केवल ब्रह्म उपादान और निमित्त कारण भी है-इसे बताने के अभिप्राय में हैं। ब्रह्म का परिणाम जगत है, इस अभिप्राय में नहीं, क्योंकि चेतन स्वरूप ब्रह्म के परिणाम में कोई दृष्टान्त नहीं है। इस विषय में ऐसा कहा जाता है कि रज्जु सर्प की कल्पना में दोष हेतु है, अतः ये मायिक परिणाम हैं; परन्तु ब्रह्म के लीलात्मक परिणाम में दोष हेतु नहीं, अतः लीला रूप अविकृत परिणाम हो सकता है; और रज्जु सर्प के दृष्टान्त अवैदिक हैं। "प्रवर्तना लक्षणा दोषाः" इस न्याय-सूत्र से ज्ञात होता है कि प्रवृत्ति में दोष ही हेतु है, तथापि आनन्दादि के परिणाम होते हैं, इस में कोई प्रमाण नहीं। "आनन्दादयः प्रधानस्य" इस व्यास सूत्र में अविकृत रूप से ही आनन्द आदि को बताया गया है, उसे परिणाम बताना ठीक नहीं मालूम होता। रज्जु सर्प का दृष्टान्त भी वैदिक हो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती, वादी-प्रतिवादी को अभिमत होने में ही दृष्टान्त का अभिप्राय है। इस विषय में शास्त्र निरपेक्ष है, तथापि स्वप्न का दृष्टान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में दिया गया है। "सन्ध्ये सृष्टिराहहि" इस व्यास सूत्रमें इसे बताया गया है। प्रातिभासिक पन में रज्जु सर्प और स्वप्न दोनों तुल्य हैं इसलिये माया का परिणाम ब्रह्म का विवर्त ही जगत है। ब्रह्म के अविकृत

परिणामपन का समर्थन 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' आदि प्रमाणों से हुआ है, तथापि इस विषय में दृष्टान्तासिद्धि है।

६—सत्, ज्ञान, आनन्द, इन तीनों स्वरूप वाली शक्तियों का स्वतन्त्र--स्वतन्त्र अपना--अपना क्षेत्र है, उनमें मुख्य रूप से अपना-अपना कार्य कर रही हैं। इनमें परस्पर सहयोग है; इन तीनों के मिले बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। कार्य--काल में एक को प्रधान और अन्य को गौणत्व होता है। आनन्द-क्षेत्र में सत् और ज्ञान गौण है, इसी तरह सत्--क्षेत्र में आनन्द और ज्ञान दोनों गौण हैं, तथा ज्ञान क्षेत्र में सत् और आनन्द गौण हैं। वेदान्त-ग्रन्थों में माया को मिथ्या बताया है, वह अविद्या के विषय में है-सच्चिदानन्द-स्वरूपिणी शक्ति के विषय में नहीं, क्योंकि वह निराबाध है।

७—जब शक्ति रूप से ब्रह्म का अवस्थान होता है, तब उसे सगुण ब्रह्म कहते हैं; तभी उसकी स्पष्ट रूप से व्यक्ति इस स्थूल जगत में होती है। वह सत् रूप से जड़-रूप में एवं कर्मयोग में प्रतिपादित होता है; चित्-रूप से चेतन जीव तथा ज्ञानयोग का विस्तार करता है, आनन्द रूप से दिव्य भोगों वाले लोकों तथा उपासना या भक्ति मार्ग का विस्तार करता है। इन तीनों अवस्थाओं का निरूपण भक्ति मार्ग के आचार्य तथा वेदान्ती आचार्य भी प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त में पञ्चदशी ग्रन्थ के पंद्रह प्रकरण पाँच-पाँच करके सत्-चित्-आनन्द के ही प्रतिपादन में पर्यवसित हैं। भेद इतना है कि भक्तिमार्गी इसके सूक्ष्म आकार मानते हैं। वेदान्ती सच्चिदानन्द को आकृति रहित मानते हैं।

८—कर्म, ज्ञान, और भक्ति साधनों द्वारा अधिकारी की अपेक्षा से गौण प्रधान भाव से ब्रह्म ही प्राप्य है। इसलिये सिद्धान्त में इनका विरोध नहीं है। तीनों साधनों के अनुयायी शुद्धता से इनका आचरण करके एक ही उद्देश्य को प्राप्त करते हैं। इसी अभिप्रायानुसार श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश दिया गया है। साम्प्रदायिक आचार्यों ने एक-एक अधिकारियों की अपेक्षा से उपदेश दिया है। समन्वय दृष्टि से उनकी संगति लग सकती है। अपने से भिन्न मतों का खण्डन उन विशेष अधिकारियों की श्रद्धा को बढ़ाने के लिये है; वास्तविक नहीं। इस प्रकार आर्य धर्म का विरोध हटाया जा सकता है। यही व्यवस्था द्वैत, अद्वैत के विषय में भी है, प्रत्युत संसार के सभी मतों की सत्यांश में एकता है, और देश-काल की अवस्था से भेद है।

९—अविद्या के भाव से नित्य चेतनस्वरूप वाला जीव होने पर भी मृत्यु के पाश में उलझ कर अपने लिये सुख-दुःख, जन्म-मरण मानता है। ये धर्म वास्तव में व्यष्टि अविद्या के हैं, तथापि जीव अपने अन्दर इन्हें मानता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' इन वाक्यों के उपदेश से शुद्ध चेतन-स्वरूप साक्षी आत्मा का जब वह ज्ञान प्राप्त करता है तब उसकी अविद्या निवृत्त होती है। इस कार्य की निष्पत्ति योग, उपासना से नहीं हो सकती। योग और उपासना से हृदय शुद्ध होकर ज्ञान प्राप्ति की योग्यता आती है, क्योंकि जो जिसके आश्रित होता है, वह उसका निवर्तक नहीं होता-जैसे चन्द्रमा रात्रि के अधीन रहता है, रात्रि का विनाश नहीं कर सकता; रात्रि का विनाश तो सूर्य ही कर सकता है। इसी तरह कर्म, उपासना अविद्या के विनाशक नहीं हैं-केवल मल, विक्षेप दोषों के निवर्तक हैं; आवरण तो

अभेद ज्ञान से ही दूर होता है। इसी लिये कहा है-"ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः" अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती।

१०—जिस प्रकार अग्नि का दाह और प्रकाश गुण लकड़ी में ही व्यक्त होता है, जल में केवल दाह को ही अवकाश प्राप्त होता है-प्रकाश को नहीं; इसी प्रकार आनन्द-अंश की व्यक्ति जीव में नहीं होती। अविद्या का मलिन सत्व अंश तथा उसके कार्य ही इसमें हेतु हैं। अविद्या या माया के दो अंश हैं:—एक समष्टि (Universal) तथा दूसरा व्यष्टि (Individual) या जिन्हें ही 'कुल' या 'जुज़' कहते हैं। मलिन सत्व वाली अविद्या में प्रकट होने वाली शक्ति को 'जीव' कहते हैं, तथा समष्टि में चैतन्य-शक्ति की व्यक्ति को 'ईश्वर' कहते हैं। जैसे ईश्वर एक है, वैसे जीव भी एक ही है, तथापि उपाधि अनेक होने से उसे अनेक कहा जाता है। ईश्वर की उपाधि एक है और उसे विद्या कहते हैं। व्यष्टि अविद्या ही कारण, सूक्ष्म और स्थूल इन त्रिविध शरीरों को धारण करती है। जिन से सम्बन्ध रखने से जीव को क्रम से प्राज्ञ, तैजस और विश्व कहते हैं। समष्टि में व्यक्त परमात्मा की चैतन्य-शक्ति को अन्तर्यामी हिरण्यगर्भ और विराट् कहते हैं। ईश्वर और जीव दोनों चैतन्य शक्ति के ही नामान्तर हैं। केवल माया के द्विविध परिणामों से ये भेद हुए हैं। ये दोनों कल्पनायें पराशक्ति के एक देश में हैं-"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" 'पादोहि सर्वा भूतानि' आदि वचनों से यह कहा गया है। माया-भाव के शोधन के पश्चात् शुद्ध चैतन्य का परिचय होता है। इसी को 'अद्वैत' कहते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि, आदि वाक्यों से यही बात कही गई है। निरपेक्ष भाव को शुद्ध ब्रह्म, तुरीय, या माण्डूक्य उपनिषद में उसे ही 'शिव'

जो पूर्ण विषयों से विरक्त, जितेन्द्रिय, आप्तकाम, दीनों का सहायक कृपा, की मूर्ति, बुद्धि-बल में जो बृहस्पति को भी चकित करने की सामर्थ्य रखता है; काम, क्रोध, मोह आदि पशुओं की जो बलि चढ़ाता है; अहिंसा आदि पुष्पों से जो शृंगार करता है; घृणा, लज्जा आदि अष्ट पाशों से जो मुक्त है; श्री गुरु चरण से निकली हुई सुधा का जो पान करता है, सुषुम्नान्तगत कुण्डलिनी शक्ति से जो रमण करता है; वैदिक धर्म तथा वर्णाश्रम के विरोधियों को चुप करने की जो सामर्थ्य रखता है; भगवद् भक्तों में जिसका प्रेम रहता है; उनको सेवा तथा रक्षा करना ही जिसका मुख्योद्देश्य होता है; पाखण्ड और दम्भ को अपनी निपुण विचार शक्ति से जो निराश करके सद्धर्म एवं सदाचार को फैलाता है; निषिद्ध कामनाओं का मारण, लोभ--मोह का उच्चाटन, काम--क्रोध का विद्वेषण, आपत्तियों का स्तंभन, इन्द्रियों का वश्य, और दैवी गुणों का मोहन रूप-जो षट्कर्म के अनुष्ठान करने में सिद्ध हस्त है, वही यथार्थतः जगन्माता का उपासक वीर पुरुष शाक्त कहलाने के योग्य है। वही पुरुष ऐसे घोर कलि में भी गिरे हुए दीन-हीन जनों को शुभ सन्देश सुनाने में कृत-कार्य हो सकता है, और माता की समस्त कृपा का पात्र वही भक्त है। "शरणागत दीनार्त परित्राण परायणे, सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तुते," ।

१२—जिस प्रकार सब नदियाँ बहती हुई समुद्र में विश्रान्ति पाती हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमी गृहस्थ के ही आश्रय में सुख पाते हैं। गृहस्थ सब का पोषक तथा आधार है। जैसे सन्यासाश्रम निवृत्ति में प्रधान माना जाता है, वैसे ही गृहस्थ आश्रम प्रवृत्ति में सबसे बड़ा है। 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही'—मनु ? के

इस वचन का यही अभिप्राय है। प्रवृत्ति को ठीक करने के लिये अन्य तीनों आश्रमों को सदैव गृहस्थ के हित का चिन्तन करना चाहिये।

नित्य-प्रति देव, अतिथि, ब्रह्म, पितृ, और भूत इन पञ्च-महायज्ञों को करने वाला, स्वाध्याय-निरत, ऋतु-काल में स्वदार-निरत, अधिकारी को दान देने वाला; जो वेद मार्ग का अनुगामी ईश्वर का भक्त है, उसे ही सद्गृहस्थ कहते हैं।

१४—जो कामिनी-काञ्चन से विरत; पूर्ण अहिंसक; अभेद रूप से ब्रह्म का चिन्तन करने वाला; वैराग्य, शील, क्षमा, दया, आर्जव आदि गुणों से सम्पन्न प्रियवादी, जगत को सन्मार्ग का उपदेश देने वाला, नामरूप में आसक्ति रहित जो महात्मा है, उसे ही सन्यासी कहते हैं।

१५—मनुष्य की कोई भी साधना-योग, भक्ति, ज्ञान, आदि तभी सफल होती हैं, जब उसे परमात्मा की कृपा प्राप्त होती है। इसलिये और सब बातों को छोड़ कर इसे ही प्राप्त करना चाहिये। सदाचार ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है; उसके बिना बाहरी आडम्बरों से कोई फल नहीं मिल सकता। अपने साथ किये हुए दूसरों के अपकारों को भूल जाना ही सच्चा महात्मापन है। जीव-मात्र पर दया तथा सबकी नारायण-बुद्धि से सेवा करना ही इस जीवन का सबसे बड़ा कर्तव्य है। कलह, ईर्ष्या, द्वेष का त्याग ही उत्तम त्याग है। लड़ाई-झगड़ा करने से हानि के सिवा और कुछ नहीं मिलता।

इस माला को फिराने वालों को इन मेरू-भूत सिद्धान्तों का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये। जो इस माला को विचारपूर्वक धारण करते हुए आवृत्ति करते रहेंगे, उन पर अन्तर्यामी परमात्मा अवश्य कृपा की दृष्टि करेंगे, यह दृढ़ निश्चय है।

❀ इति: ❀

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१०	तीनों	तीन
१	१२	उन्हें	उसे
३	१९	मरना	मरण
४	७	गया हैं	गया है
६	८	अदृष्ट	अदृश्य
८	१७	उटेक	उद्रेक
८	२५	बनाना	बनना
९	१०	रखना यह भी	रखना भी
१०	१	अन्न म	अन्न में
१२	४	साधकों का	साधकों के लिये
१४	२१	गय	गया
१५	२६	वश्चित प्रसादनम	तश्चित प्रसादनम्
१७	४	सान्येस्थितंमन:	साम्येस्थितं मन:
२१	५	रखिये	राखिये
२३	१०	इसलिये	इसीलिये
२५	८	आश्रम था भी	आश्रम भी था
२६	१६	उच्छङ्खलता	उच्छृङ्खलता
२६	१७	पूण	पूर्ण
३२	८	समेत्यार्थानमनो	समेत्यार्थान्मनो
३३	१	मन्त्रां	मन्त्रों
३६	६	हे	है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६	१२	चैतन तत्व	चेतन तत्व
४०	२२	व्रह्मा नाड़ी	ब्रह्मनाड़ी
४१	२२	विभूषित हैं	यह विभूषित है
४४	१५	वृत्तियों	वृत्तियाँ
४५	७	च्णिक हैं इन में	क्षणिक हैं; इनमें
४५	१९	भागों	भोगों
४६	२२	समाधि के	समाधि की
४७	४	अङ्गों का	अङ्गों को
४८	७	समपूर्ण	सम्पूर्ण
४९	८	भाव की	भाव के
५०	२३	भक्तास्तेऽतोव	भक्तास्तेऽतीव
५१	१३	अनूकुल	अनुकूल
५४	८	मूतियों	मूर्तियों
५५	१७	विष्ण की मूति	विष्णु की मूर्ति
५७	१७	पुराणा	पुराणों
५८	७	शैवा	शैवों
५८	१९	शप्त सती	सप्तशती
५९	३	प्रकृति	प्रवृत्ति
६१	६	स्वव	स्व
६१	१८	स्मर्तृणां	स्मर्तृ णां
६२	१४	ज्ञन	ज्ञान
६३	६	से	के
६३	२४	विष्णु शाप, सावित्री केक मुख्य स्थान में से	विष्णुको शाप, सावित्री को मुख्य स्थान में बैठाने से

T

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६४	९	जब देवताओं	देवताओं
६४	१६	कही गई है। हैमवतो	कही गई हैमवती
६७	१४	का	को
७०	५	बोध	बाध
७५	२४	उपाना	उपासना
७९	१५	प्रकृतिवाद	प्रकृतिवाद
७९	१९	बचन	वचन
८४	२४	Godis	God is
८७	६	योगहैलभ्य	योगैकलभ्य है
८७	२३	शक्ति ही। व्यक्त	शक्ति व्यक्त
८८	९	व्यक्ति	व्यक्त
८९	१०	सगुण ब्रह्म,	सगुण ब्रह्म में
८९	१४	आधाराध्येय	आधाराधेय
८९	२०	सूत्रों में की भी है	सूत्रों की भी है
९०	८	इसलिये	इसीलिये
९०	२०	वहीं	यहीं
९०	२४	गणेश	गाणेश
९१	७	पदृच्छा	यदृच्छा
९१	२१	ज्ञा।	ज्ञान
९२	१९	ब्राह्म	ब्रह्मा
९२	२२	शब	शव

T

मुद्रक :—
अयोध्या प्रसाद शर्मा
"स्वाधीन प्रेस"—झांसी ३१३३९

T